जैन भारती

मई, 2009 • वर्ष 57 • अंक 5 • वार्षिक रु. 200.00

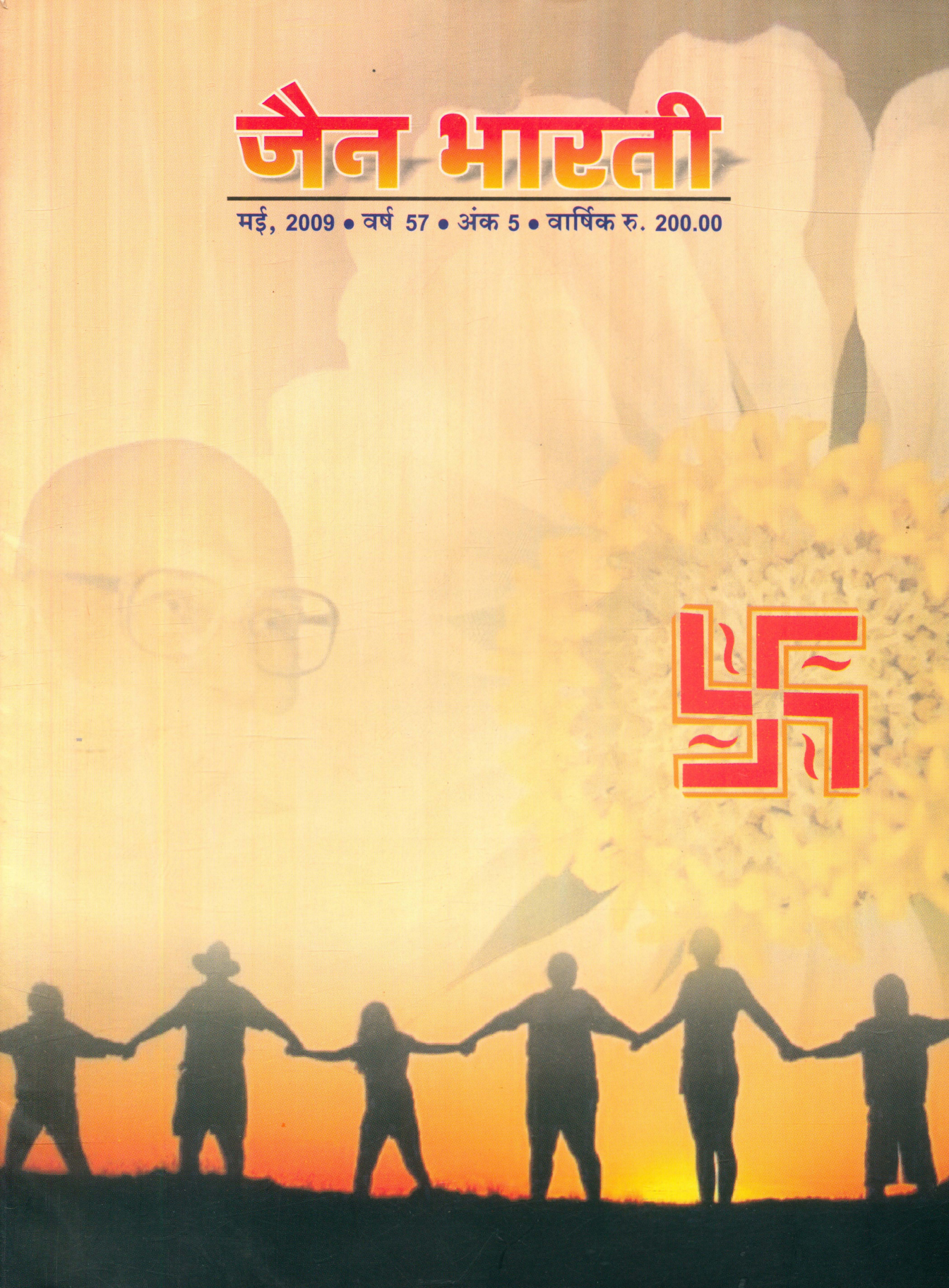

With best compliments from :

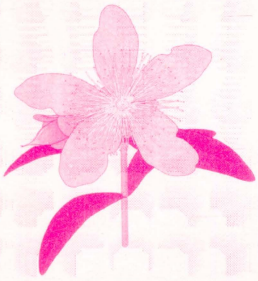

बच्छराज राजेन्द्र कुमार पुगलिया

कोलकाता-अलीपुरद्वार-श्रीडूंगरगढ़

LEO INDUSTRIES

19, Pollock Street, 2nd Floor

Kolkata-700001 (W. B.)

Phone Off. : 033-22355833, 22350261

Resi. : 033-24552439

शुभू पटवा
मानद संपादक
●
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 57 ● मई, 2009 ● अंक 5

विमर्श

11
डॉ. एस. राधाकृष्णन
कर्म : गीता दृष्टि

14
युवाचार्य महाश्रमण
सुष्ठु अध्यायः इति स्वाध्यायः

17
मुनि मदनकुमार
अनशन : दमन नहीं; शोधन

●

आवरण
कमल श्रीमाली

अनुभूति

25
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
ढूंढ़ो : अपने को; अपने आलोक में

28
साध्वी मयंकप्रभा
संयम : अहिंसा का सम्यक् स्वरूप

31
भगिनी निवेदिता
श्रम : आत्मोन्नति की साधना

34
मुनि राजकुमार
संगीत : मन के पार आत्मा तक पहुंचने का मार्ग

37
कहानी
रघुवीर सहाय
जीता-जागता व्यक्ति

40
कविताएं
सुमित्रानंदन पंत की कविताएं

प्रसंग

7
शुभू पटवा
श्रम की सामाजिकता

शीलन

43
समणी विपुलप्रज्ञा
परमाणुवाद : वैज्ञानिक-दार्शनिक विमर्श

49
साध्वी डॉ. योगक्षेमप्रभा
जैन मत और गर्भ-विज्ञान

52
रामजीसिंह
श्रम, शम एवं सम—सच्चा विज्ञान

55
बालकथा
रस्किन बांड
समाप्त हुई केन काका की सेवाएं

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर ● फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये ● त्रैवार्षिक 500/- रुपये ● दसवर्षीय 1500/- रुपये

बीमार के लिए ऐसी व्यवस्था करते

स्वामीजी बीमार साधुओं के लिए दाल मंगाते तब उन्हें दो तरफ रखते—कुछ तीखी होती, कुछ कड़वी होती, किसी में नमक ज्यादा होता, किसी में नमक कम होता। बीमार को कौन-सी रुचती है, कौन-सी नहीं रुचती— इसलिए वे उन्हें अलग-अलग रखते। बीमार के लिए ऐसी व्यवस्था करते।

तुम्हें यह शंका क्यों हुई

सं. 1855 की घटना है। स्वामीजी कांकरोली में 'सहलौतां की पोल' में ठहरे हुए थे। रात के समय पोल की खिड़की खोल कर स्वामीजी देहचिंता से निवृत्त होने के लिए बाहर गए।

तब हेमजी स्वामी ने पूछा—महाराज! क्या खिड़की खोलने में कोई आपत्ति नहीं है?

तब स्वामीजी बोले—यह पाली का चोथजी संकलेचा दर्शन करने आया हुआ है। यह बहुत शंकाशील है। पर इस बात की शंका तो इसके भी नहीं हुई। तुम्हें यह शंका क्यों हुई?

तब हेमजी स्वामी ने कहा—मेरे मन में शंका किसलिए हो? मैं तो ऐसे ही पूछ रहा हूं।

तब स्वामीजी बोले—तू पूछता है इसमें कोई आपत्ति नहीं है। इस खिड़की को खोलने में कोई आपत्ति होगी तो हम क्यों खोलेंगे?

उतना बचा जो ढक्कन में समा गया

जिधर हवा का वेग था उधर एक बुढ़िया ने चक्की चलाना शुरू किया। वह जैसे पीसती है, वैसे ही आटा उड़ता जाता है। उसने रात भर पीसा और उतना ही बचा जो ढक्कन में समा गया।

इसी प्रकार जो साधुपन और श्रावकपन को स्वीकार कर, जान-जान कर दोष लगाते हैं और उसका प्रायश्चित्त करते नहीं, उनके शेष कुछ बचता नहीं।

●

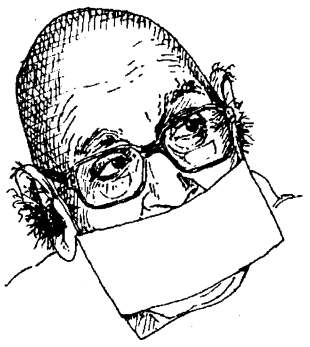

साम्राज्यवादी मनोवृत्ति के दो रूप हैं—क्षेत्र विस्तार और व्यापार विस्तार। प्राचीनकाल में क्षेत्रीय उपनिवेशवाद का प्रचलन था। आज उसका स्थान व्यावसायिक उपनिवेशवाद ने ले लिया है। वर्तमान परिस्थितियों में सामान्यतः कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर सीधा अधिकार करना नहीं चाहता। किंतु, व्यापार पर अपना कब्जा करने के अवसर खोजता रहता है। भारत में बहुराष्ट्रीय कंपनियों की घुसपैठ इसी आर्थिक-साम्राज्य को स्थापित करने के लक्ष्य से हो रही है—ऐसा माना जाता है। व्यावसायिक प्रभुत्व के विस्तार को रोकने में दिग्व्रत एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। इस व्रत का पालन करने वाला श्रावक निर्धारित सीमा से आगे जाकर व्यापार नहीं करता।

स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में महात्मा गांधी ने स्वदेशी आंदोलन चलाया था। उस आंदोलन के संभागियों और समर्थकों ने बहुमूल्य विदेशी वस्त्रों तथा अन्य वस्तुओं की होली जला दी थी। वस्त्रों को राख करना गांधीजी का उद्देश्य नहीं था। वे जनता के मन में अपने देश और समाज के प्रति अपनापे की भावना जगाना चाहते थे। उन्होंने घर-घर में कुटीर उद्योग लगाकर प्रत्येक देशवासी के स्वावलंबी बनने की बात कही थी। उनका निर्देश था कि हर भारतीय स्वयं-निर्मित अथवा अपने गांव और देश में बनी वस्तुओं का ही उपयोग करे। स्वदेशी आंदोलन विदेशी लोगों के प्रति असहयोग की भावना से ही प्रेरित नहीं था, वह देश में बढ़ रही बेकारी की समस्या का बहुत बड़ा समाधान भी था। जिन युवकों को काम नहीं मिलता, सरकारी नौकरियां नहीं मिलतीं—वे पढ़े-लिखे युवक निराश हो जाते और हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाते। गांधीजी ने उनमें आत्म-विश्वास पैदा किया। स्वावलंबन, गांव की अर्थव्यवस्था आदि बातें समझा कर उनमें उत्पादक-श्रम के प्रति निष्ठा जगा दी।

श्रावक की आचार-संहिता के तीन व्रतों में पहला व्रत व्यावसायिक साम्राज्यवाद की मनोवृत्ति पर अंकुश लगाने वाला है। इतने भू-भाग में बनी हुई वस्तु के अतिरिक्त किसी भी क्षेत्र में निर्मित वस्तु का उपयोग नहीं करना और अमुक सीमा से आगे जाकर व्यवसाय नहीं करना—इस व्रत के फलित हैं।

—आचार्यश्री तुलसी

आत्मा का शाश्वत अस्तित्व असंदिग्ध है। वह इस जीवन से पहले भी थी, आज भी है तथा इस जीवन के बाद भी किसी-न-किसी रूप में रहेगी। शरीर तो यहीं समाप्त हो जाने वाला है। अब चिंतनीय बिंदु यह है कि व्यक्ति शाश्वत आत्मा के लिए कितना ध्यान देता है तथा नश्वर शरीर में कितना ध्यान लगाता है? खाना-पीना, सोना, धोना, कमाना आदि क्रियाएं सामान्यतः शरीर के लिए होती हैं। व्यक्ति का पूरे दिन का काफी समय इन प्रवृत्तियों में लग जाता है। ध्यान देने की बात यह है कि इन सब प्रवृत्तियों में व्यक्ति की जितनी-जितनी अनासक्ति होगी, उतना आध्यात्मिकता का विकास होगा। आत्मा के लिए यही हितकर है।

आत्मा के लिए जप, स्वाध्याय आदि लाभदायी हैं। व्यक्ति ने एक घंटा उपासना की, किसी आध्यात्मिक मंत्र का जाप किया। प्रत्यक्षतः भले ही जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आए, तथापि उपासना, जप आदि व्यर्थ नहीं जाते हैं। जप आदि के समय आत्म-परिणाम शुद्ध रहें, मन, वचन, काया की सावद्य प्रवृत्ति नहीं हो। यह होना ही अपने-आप में बहुत बड़ा लाभ है। यदि जीवन में परिवर्तन घटित हो जाए, तब तो कहना ही क्या। पर, यह तो विशेष लाभ है। इसलिए आत्म-हितेच्छु प्रत्येक व्यक्ति को स्वाध्याय, जप, सामायिक आदि के लिए अपने समय का सही नियोजन अवश्य करना चाहिए।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

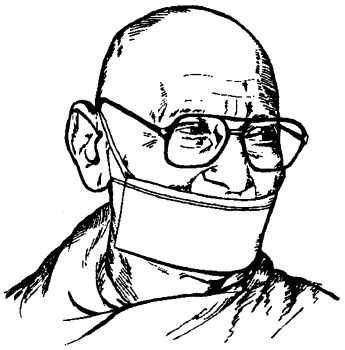

दो समस्याएं सामने हैं। एक ओर है—अहंकार की समस्या और दूसरी ओर है—हीन भावना की समस्या। दोनों ओर समस्याएं हैं। कुछ लोगों ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि 'मैं ही हूं अपने भाग्य का निर्माता'—यह अहंकार को बढ़ाने का सिद्धांत लगा। कुछ विचारकों ने कहा—'मैं कुछ भी नहीं हूं, सब-कुछ परमात्मा है। परमात्मा ही भाग्य का विधाता है, भाग्य का कर्ता है। वह जैसे चलाता है, वैसे चलता हूं। मेरा अपना स्वतंत्र अस्तित्व कुछ भी नहीं हैं।' इस सिद्धांत से अहंकार तो पुष्ट नहीं बना, किंतु हीन भावना की बुद्धि तो पैदा हुई। दोनों ओर समस्याएं उभर गईं। एक ओर अहंकार का दैत्य खड़ा है, तो दूसरी ओर हीन भावना का दानव तांडव कर रहा है। आदमी दोनों के बीच किंकर्तव्यविमूढ़ होकर खड़ा है। कभी इधर झांकता है, कभी उधर झांकता है।

जैन-दर्शन ने दोनों बातों को स्वीकार नहीं किया। उसने न अहंकार की बात को स्वीकारा और न हीन भावना की बात को स्वीकारा। उसने कहा—प्रत्येक कथन को अनेकांत की दृष्टि से देखो, नय की दृष्टि से देखो। आगम का वाक्य है—**अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य**—आत्मा ही सुख की कर्ता है और आत्मा ही दुख की कर्ता है। **पुरिसा! तुम मेव तुमं मित्तं**—पुरुष! तू ही तेरा मित्र है। इन आगम वाक्यों को एकांत दृष्टि से नहीं समझा जा सकता है।

आचार्य भद्रबाहु और उत्तरवर्ती सभी जैन आचार्यों ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही कि—**णत्थि णयाविहूणं जिणवयणं**—कोई भी जिन-वचन ऐसा नहीं है, जो नय-दृष्टि से निरपेक्ष हो। प्रत्येक कथन को नय-दृष्टि से देखो, सचाई हाथ लग जाएगी। यदि नय-दृष्टि को छोड़ कर किसी वचन को समझना चाहोगे, तो अहंकार बढ़ेगा या हीन भावना बढ़ेगी। या तो आग्रह पनपेगा या मिथ्या दृष्टिकोण पनपेगा। इन दोनों से बचने के लिए अनेकांत दृष्टि का सहारा लेना आवश्यक है।

तर्कशास्त्र में कर्ता और भोक्ता की चर्चा है। जो कर्ता है, वही भोक्ता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व—ये दोनों एक में ही होती हैं। यह सिद्धांत बन गया कि जो कर्ता, वही भोक्ता। पर, अनेकांत दृष्टि से विचार करने पर नय का सहारा लेना पड़ेगा। आदमी ने इस जन्म में एक कर्म किया, यहां से मरा और दूसरी योनि में चला गया—वह वहां अपने पूर्वकर्म का फल भोगता है। यहां उसने अच्छा कर्म किया था, तो देव बन कर अच्छा फल भोग रहा है। यहां उसने बुरा कर्म किया था, तो नारक या पशु बन कर उसका बुरा फल भोग रहा है। लगता है—करने वाला कोई दूसरा था और भोगने वाला कोई दूसरा है। यहा एक समस्या उपस्थित हो जाती है। इसे समाहित करने के लिए नय-दृष्टि से विचार करना होगा।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

जैन भारती
मई, 2009

प्रसंग

श्रम की सामाजिकता

जिस विषमता से हमारा समाज सदा आक्रांत रहा है, उसका सबसे प्रमुख कारण श्रम के प्रति हमारा एकांगी दृष्टिकोण है। श्रम का मूल्य व अर्थवत्ता सामाजिक दृष्टिकोण के साथ कभी भी नहीं आंकी गई। 'क' के श्रम की कीमत 'ख' से अत्यधिक हो और दोनों के मध्य अंतर का कोई तर्कपूर्ण आधार न हो तो विषमता के सिवा और होगा ही क्या? महात्मा गांधी के इस कथन कि—वकील और नाई, दोनों के काम की कीमत एक-सी होनी चाहिए—को यदि युक्तिपूर्ण नहीं भी मानें तो यह बात भी कैसे युक्तिसंगत कही जा सकती है कि दो के बीच श्रम के मूल्य में इतना अंतर रहे कि वह खाई ऐसी खंदक ही बन जाए कि जिसका ओर-छोर भी न नापा जा सके! इस संबंध में हमारी ही संसद में डॉ. राममनोहर लोहिया ने प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू पर होने वाले खर्च और आम आदमी की आमदनी की तुलना पर जो बहस की थी, वह उल्लेखनीय है। तब डॉ. लोहिया ने कहा (सन् 1963) था कि भारत के औसत आदमी की आमदनी प्रतिदिन तीन आना है, जबकि प्रधानमंत्री के कुत्ते पर रोज तीन रुपए खर्च हो जाते हैं। लंबी बहस के दौरान आखिर में तब जो तथ्य सामने आए उससे यह बात निकली कि देश के सत्ताईस करोड़ लोग तीन आने रोज पर जीवन गुजर करते हैं। डॉ. लोहिया ने इस बहस के बाद तब खर्च की सीमा निर्धारित करने की बात भी कही थी। उनकी राय में खर्च की सीमा 'एक और दस' के अनुपात में रहे—ऐसी तजवीज करने के लिए सरकार को कहा गया था। आज यह कहा जा रहा है कि देश के अस्सी लाख लोगों की आय मात्र बीस रुपए है। सन् 1963 की संसद में हुई वह बहस 'समता के विकास' की दिशा में उठा एक महत्त्वपूर्ण कदम था, पर हम देखते हैं कि ऐसे कदम मात्र बहसों-मुबाहिसों तक ही सीमित रह जाते हैं और नतीजा कुछ भी निकलता नहीं। संसद की उस बहस का नतीजा ही यदि निकला होता तो आज अस्सी लाख लोगों की औसत आय मात्र बीस रुपए भर नहीं रहती।

इस विषमता से पैदा होने वाली दूसरी समस्याओं से हम पूरी तरह वाकिफ हैं। समाज में असंतोष, घृणा और अंततः होने वाली हिंसा के मूल में यही असंतुलन है, जिसे डॉ. राममनोहर लोहिया ने पं. नेहरू पर होने वाले खर्च से जोड़ कर देखा था। इसे हम समाज के कई रूपों में देख सकते हैं। इसका समाधान भी समाज में से ही निकल कर आता हुआ लगता है। तभी तो आचार्य विनोबा भावे सही ही यह मानते हैं कि हमारा हर कार्य-व्यापार 'समाजोपकारक' होना चाहिए। तात्पर्य यह कि हमारे श्रम में भी

'समाजोपकार' के तत्त्व होने चाहिए। यही 'श्रम की सामाजिकता' है। निजी तौर पर होने वाला श्रम एकाकी होते हुए भी उसके सामाजिक प्रतिफल तभी सामने आएंगे। यदि ऐसा हो जाए तो स्वाभाविक ही विषमता की बेल अस्तित्व-हीन हो सकती है।

अलबत्ता यह सही है कि श्रम की सामाजिकता अथवा सामाजिकीकरण के लिए किसी भी स्तर पर कोई प्रयत्न होते हुए आज प्रतीत नहीं हो रहे। पर, आर्थिक उदारवाद की ओर लगातार बढ़ रहे रुझान और दुनिया भर में मंदी के जिस दौर से हम गुजर रहे हैं, उससे बचने और मुक्त होने के लिए यदि कोई उपाय असरदार हो सकता है, तो वह 'समाजोपकार' ही हो सकता है और यह तभी चरितार्थ हो सकता है जब हम श्रम की सामाजिकता के मूल्य को प्रतिष्ठापित करने की दिशा में सोचना शुरू करें।

हमारे सामने 'अंतरराष्ट्रीय श्रम दिवस' एक अवसर है, जब हम वैश्विक स्तर पर इस दिशा में चिंतन के लिए संकल्पबद्ध होने पर विचार कर सकते हैं। पर, यह विचार करने से पहले हमें एक-दो बात पर थोड़ा गौर करना जरूरी है। यह तो सर्वविदित है कि जीव मात्र कुछ-न-कुछ श्रम करता ही है, पर मनुष्य होने के नाते हमें इसके भाषिक या वाचिक अर्थ पर ही नहीं, गूढ़ार्थ पर भी सोच लेना चाहिए। चिंतन-मनन से जो अपेक्षा की जाती है, उसके निहितार्थ भी तभी सामने आ सकेंगे।

कर्म करना मनुष्य मात्र का सहज गुण-धर्म है। इसे हम पुरुषार्थ भी मानते हैं। अपनी पुस्तक 'श्री भगवद्गीता रहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र' में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक कहते हैं—'जिस वस्तु पर किसी मनुष्य की प्रीति होती है और जिसे वह पाना चाहता है, उसे पुरुषार्थ कहते हैं।' तात्पर्य यह कि प्रीतिकर रहते हुए यदि हम अपना कर्म (श्रम) करें, तभी वह पुरुषार्थ की श्रेणी में माना जा सकता है। वर्तमान में कार्यरत श्रम-संगठनों के लिए यह बात गहन विचारणीय है। श्रम-संगठनों से जुड़ा श्रमिक-वर्ग यदि अपने कर्म को प्रीतिकर भावना से पूर्ण करे तो शायद मौजूदा विषमता और निहित प्रतिरोध दूर हो सकते हैं। पर, ऐसा होने में एक दूसरी बात भी उतनी ही कारक और महत्त्वपूर्ण है और वह है—शोषण से मुक्ति। शोषण से मुक्ति का अर्थ भी अब हमें शारीरिक शोषण तक सीमित रख कर नहीं देखना चाहिए। शोषण से मुक्ति के व्यापक अर्थ हम देखें, तो उनसे मुक्ति का उपाय हम 'ट्रस्टीशिप' के सिद्धांत में पा सकते हैं। महात्मा गांधी का 'ट्रस्टीशिप' का सिद्धांत आज फिर से खंगाला जाना चाहिए। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी भी 'विसर्जन' की बात पर बल देते हैं। शोषण से मुक्ति के उपाय हम इनसे सहज ही पा सकते हैं। पुरुषार्थ के फलितार्थ तभी प्राप्त हो सकते हैं।

भारतीय मनीषा ने चार पुरुषार्थ माने हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यहां धर्म का अर्थ 'धारण' करने में है। महाभारत में व्यासजी महाराज स्पष्ट करते हैं कि—'जिससे 'धारण' होता है—वही 'धर्म' है।' आगे चल कर यह भी कहा जाता है कि धर्म से ही 'अर्थ' और 'काम' की प्राप्ति होती है। इसलिए यह कहा गया है कि ऐसे धर्म का आचरण क्यों नहीं किया जाता जो 'अर्थ' और 'काम' की प्राप्ति में सहायक हो? यह सब तभी संभव है, जब हमारे 'कर्म' समाजोपकारक हों। 'श्रम की सामाजिकता' का यही अर्थ है। इसी में पुरुषार्थ निहित है। डॉ. राधाकृष्णन भी धर्म के प्रसंग में स्पष्टतः कहते हैं—'धर्म का उद्देश्य समाज का आध्यात्मिकीकरण है, पृथ्वी पर भ्रातृभाव की स्थापना करना है।'

इसका मार्ग क्या हो सकता है? आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपनी 'अहिंसा-यात्रा' के दौरान सामाजिक विषमता को नग्न आंख से देखा है और इसके उपाय के रूप में उन्होंने अहिंसा और रोजगार (श्रम) को एक साथ जोड़ कर कुछ ऐसी प्रशिक्षण विधि की अवधारणा प्रस्तुत की है जो अहिंसा, अपरिग्रह, संयम और नैतिकता पर अवलंबित है। प्रशिक्षण की यह परिकल्पना सैकड़ों स्थानों पर साकार भी हो रही है। हमारे श्रम-संगठन अपने स्थूल हितों के लिए जो आवाज उठाते हैं, उसके साथ-साथ शाश्वत उद्देश्यों के लिए भी अब आगे आएं। ऐसे प्रशिक्षणों को अपने संगठन का आधार बनाएं तो हमारे श्रम-संगठनों की एक अनुपम छवि कुछ ही समय में सामने आ सकती है।

और 'श्रम की सामाजिकता' का स्वरूप ऐसी ही छवि में से उभर कर सामने आ सकता है।

—शुभू पटवा

[जैन भारती के अप्रैल अंक में **प्रसंग** में ही पृष्ठ 8 पर अंतिम पैरा की पहली पंक्ति में 'तेरह अप्रैल' छप गया, जबकि 'सात अप्रैल' होना चाहिए। किन्हीं कारणों से हुई इस चूक के लिए खेद है। पाठक इसे सात अप्रैल मानें। सं.]

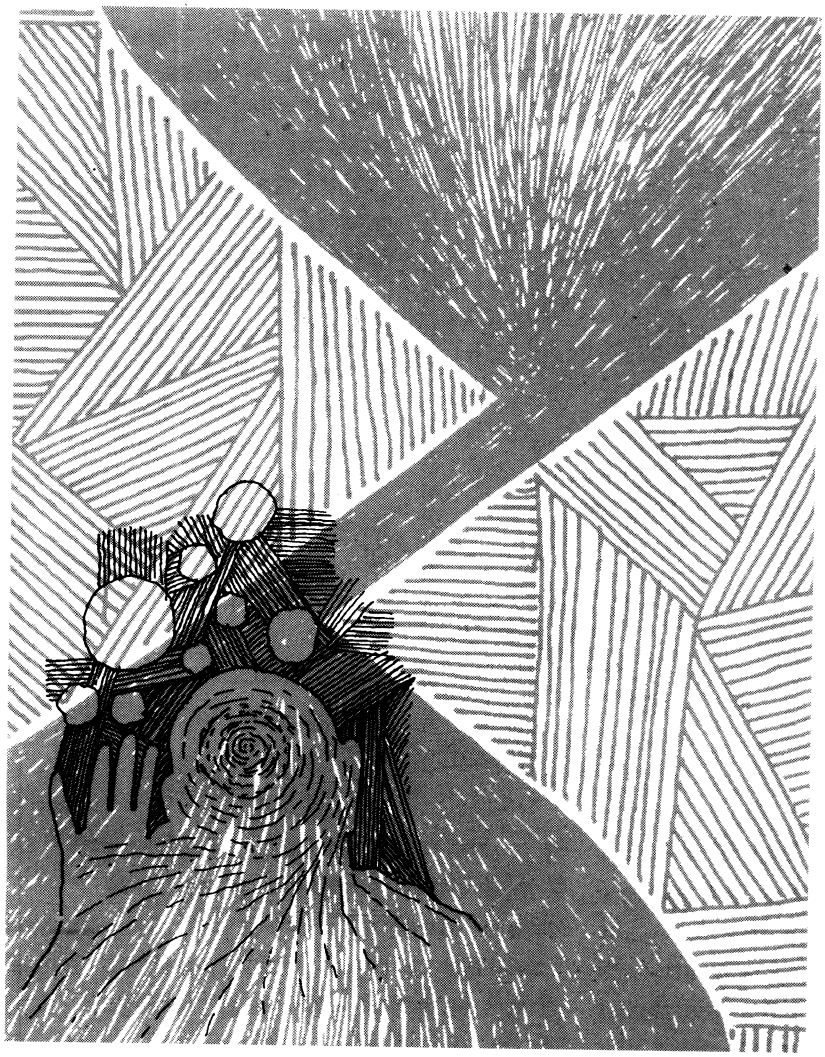

विमर्श

धर्म और औचित्य विचार में यह बड़ा दोष रहा है कि इन्हें आलोचना बुद्धि से दूर आस्था के साथ जोड़ा जाता रहा है। यह बहुत बड़ी भ्रांति है। धर्म से अधिक तर्क सम्मत दूसरा कुछ क्या हो सकता है? जिस तर्क से धर्म की आचरणीयता और अधर्म की अनाचरणीयता सिद्ध नहीं होती तो यह दोष उस तर्क का ही कहा जाएगा। दूसरी ओर जो धर्म-मत तर्क से सम्मत नहीं है उस धर्म-मत में कोई दृष्टि-दोष है, यह मानना चाहिए।

— यशदेव शल्य

हम जो-कुछ भी कर्म करें, उसे किसी बाह्य विधान की अधीनता के अंदर रह कर करना उचित नहीं, अपितु आत्मा के मोक्ष के लिए कृत आंतरिक संकल्प के आदेश के अनुसार करना चाहिए। यही उच्चश्रेणी का कर्म है। अरस्तू कहता है—'जो अपने निश्चित सिद्धांतों के आधार पर काम करता है, वह सबसे उत्तम है एवं उससे उतर कर वह है, जो अन्यों के परामर्श के आधार पर कार्य करता है।'—असंस्कृत व्यक्तियों के लिए शास्त्र ही प्रमाण हैं। शास्त्रों के आदेश केवल बाह्य हैं और जब हम उच्चतम श्रेणी में पहुंच जाते हैं, उस समय वह हमारे ऊपर लागू नहीं रहते। क्योंकि उस अवस्था में स्वभावतः हमें आत्मा के के अनुकूल ही कर्म करना होता है।

कर्म : गीता दृष्टि

❑ डॉ. एस. राधाकृष्णन

नैतिकता की समस्या केवल मानवीय जगत से ही संबंध रखती है और जगत के समस्त पदार्थों में केवल मनुष्य की आत्मा ही ऐसी है, जो इस स्तर पर अपनी जिम्मेदारी का विचार रखती है। मनुष्य की महत्त्वाकांक्षा मूलतः आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति के लिए ही होती है, किंतु वह इसे जगत के भौतिक तत्त्वों से प्राप्त नहीं कर सकता। जिन सुखों की प्राप्ति के लिए वह प्रयत्न करता है, वे विभिन्न प्रकार के हैं। भ्रांत-मन एवं मिथ्या प्रकार की इच्छाओं से जिन सुखों की प्राप्ति होती है, उनमें अधिकतर तो स्थूल ही होते हैं। इंद्रियों से जो सुख प्राप्त होता है, उसमें रजोगुण अधिक रहता है और आत्मज्ञान का जो सुख है—उसमें सत्त्वगुण का भाव अधिकांश में रहता है। सबसे उन्नत कोटि का संतोष तभी हो सकता है, जब मनुष्य की अंतरात्मा को यह देख कर परम संतोष हो कि इस जगत में भी आत्मा का निवास है। सत्कर्म वह है, जो मनुष्य को मोक्ष प्राप्त कराने और आत्मा को पूर्णता प्राप्त कराने में सहायक होता है। वही शुद्ध आचरण है, जिससे मनुष्य और प्रकृति के बीच यथार्थ ऐक्य अभिव्यक्त हो सके और अशुद्ध आचरण वह है, जो यथार्थता के इस अनिवार्य संगठन के संपादन में असमर्थ हो। विश्व का एकत्व आधारभूत सिद्धांत है। जिससे पूर्णता की ओर प्रगति हो सके—वही पुण्य है और जिसकी संगति इसके साथ न बैठे—वह पाप है। पुण्यात्मा व्यक्ति को इसके साथ सहयोग करना चाहिए और संसारमात्र के कल्याण को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। समाज में जो सर्वश्रेष्ठ मनुष्य हैं, उनके ऊपर सबसे अधिक कर्तव्य का भार है।

इंद्रिय-निग्रह धर्मात्मा पुरुष का विशेष लक्षण है। वासना हमारे धार्मिक स्वरूप की स्वतंत्रता का अपहरण कर लेती है। इसके कारण विवेकशक्ति चेतनाशून्य हो जाती है और तर्कशक्ति पर भी प्रतिबंध लग जाता है। मन की अनियंत्रित प्रेरणाओं को उद्दाम रूप में खुला छोड़ देने से शरीर के अंदर निवास करने वाली आत्मा दास बन जाती है। श्रीमद्भगवद्गीता भी हमें अनासक्ति के भाव को विकसित करने तथा कर्मफल के प्रति उपेक्षा का भाव रखने एवं योग की भावना अथवा निष्पक्षता को विकसित करने का आदेश करती है। सच्चा त्याग इसी में है। अज्ञान के कारण जो कर्म को छोड़ना है—वह तमोगुण युक्त त्याग है। परिणामों के भय से—जैसे शारीरिक कष्ट के भय

से—कर्मों को छोड़ना भी त्याग है, किंतु यह त्याग रजोगुणयुक्त त्याग है। कर्म का सबसे उत्तम रूप अनासक्ति की भावना और परिणामों के भय से सर्वथा रहित होने में है, क्योंकि इसी में सात्त्विक गुण का प्राचुर्य है।

कर्म के विषय में गीता के विचारों को ठीक-ठीक समझने से हम पाते हैं कि यह तपस्यापरक नीतिशास्त्र की समर्थक नहीं है। बिना किसी पुरस्कार की आशा से जो कर्म किया जाता है—वही सच्चा त्याग है। कर्म के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए गीता इसको दो विभागों में विभक्त करती है—एक तो मानसिक पूर्ववृत्त अर्थात् पूर्व के कर्मों के संस्कार, जो मन में पहले से रहते हैं और दूसरा—बाह्य-कर्म। इसलिए गीता में कहा गया है कि मानसिक पूर्ववृत्त को हम वश में करें, जो स्वार्थपरता के भाव के दमन से ही संभव है। नैष्कर्म्य अथवा कर्म का त्याग सदाचार का यथार्थ विधान नहीं, अपितु निष्कामता—अर्थात् उदासीनता, कर्मफल की ओर से उदासीनता है। काम, क्रोध और लोभ—इन तीनों पर—जो कि नर्क के मार्ग हैं, विजय पानी चाहिए। सभी प्रकार की कामनाएं बुरी नहीं हैं। धार्मिकता की कामना दैवीय है। गीता यह नहीं कहती कि वासनाओं का मूलोच्छेदन कर दो, अपितु उन्हें पवित्र करने का आदेश देती है। भौतिक प्राणधारक प्रकृति को स्वच्छ रखने की आवश्यकता है। इसी प्रकार से मानसिक-बौद्धिक प्रकृति को भी पवित्र करना आवश्यक है और इसके अनंतर ही धार्मिक प्रकृति को संतोष प्राप्त हो सकता है। निष्क्रिय रहना स्वतंत्रता नहीं है, अर्थात् निष्क्रिय रह कर मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती और न ही शरीरधारी जीव नितांत रूप से कभी कर्म का त्याग कर सकते हैं।

इस मर्त्यलोक में विश्राम नहीं है, यहां तो जीवन-भर कर्म करते रहना चाहिए। कर्म ही संसार-चक्र की गति को जारी रखता है और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर से पूरा प्रयत्न इसकी गति को जारी रखने में करना चाहिए। जब तक हमें मोक्ष प्राप्त न हो, कर्म करते रहना अनिवार्य है। पहले तो हमें मोक्षप्राप्ति के लिए कर्म करना है और मोक्ष प्राप्त कर लेने पर दैवीय शक्ति के साधन के रूप में हमें कर्म करना है। अवश्य ही उस समय मन को तैयार करने अथवा हृदय को पवित्र करने का कार्य शेष नहीं रह जाता। मुक्तात्माओं के लिए किन्हीं विशेष नियमों का पालन करना आवश्यक नहीं है। वे यथेष्ट कार्य करते हैं, किंतु यह आवश्यक है कि वे कुछ न कुछ कर्म करते अवश्य रहें।

हम इस प्रकार कर्म करें कि कर्म हमें बंधन में न जकड़ सकें। स्वयं प्रभु भी मनुष्य-जाति के लिए कर्म करते हैं। यद्यपि परमार्थ के दृष्टिकोण से वे स्वात्मनिर्भर तथा इच्छारहित हैं, तो भी उन्हें संसार में कुछ न कुछ कार्य संपन्न करना ही होता है। मुक्तात्माओं का भी यह कर्तव्य है कि वे दूसरों को अपने अंतःस्थित शक्ति की खोज करने में सहायता करें। मनुष्य-जाति की सेवा ही असली उपासना है। निष्काम भाव से तथा विदेह वृत्ति से किया गया कर्म बंधन का कारण नहीं होता। गीत में कहा गया है—'...और इस प्रकार के कर्म मुझे बंधन में नहीं जकड़ सकते, क्योंकि मैं उक्त कर्मों के प्रति सर्वथा उदासीन भाव से ऊंचे स्थान पर अवस्थित हूं।'—इसीलिए गीता संन्यास और त्याग में भेद करती है; सब प्रकार के ऐसे कर्मों का त्याग, जो फल की आकांक्षा को लेकर किए जाते हैं—संन्यास है, तथा कर्मों के फल को छोड़ देने का नाम ही त्याग है। प्रवृत्ति अर्थात्—कर्म करना और निवृत्ति अर्थात्—उससे उपरामता; दोनों का एकत्रीकरण है। कर्मों से केवल् निवृत्त रहना सच्चा त्याग नहीं है। हाथ निश्चल रह सकते हैं, किंतु इच्छाएं अपने कार्य में व्यस्त रहती हैं। यह कर्म नहीं है—जो हमें बंधन में डालता है, किंतु भाव ही है— जिसको लेकर हम कर्म करते हैं और जो बंधन का कारण है। आत्मा का आंतरिक जीवन सांसारिक क्रियाशील जीवन के अनुरूप होता है। इस तरह जिस कर्म का संकेत गीता में किया गया है—वह कौशलपूर्ण कर्म है—**योगः कर्मसु कौशलम्**—अर्थात्—कर्मों में कुशलता का नाम ही योग है।

हम जो-कुछ भी कर्म करें, उसे किसी बाह्य विधान की अधीनता के अंदर रह कर करना उचित नहीं, अपितु आत्मा के मोक्ष के लिए कृत आंतरिक संकल्प के आदेश के अनुसार करना चाहिए। यही उच्चश्रेणी का कर्म है। अरस्तू कहता है—'जो अपने निश्चित सिद्धांतों के आधार पर काम करता है, वह सबसे उत्तम है एवं उससे उतर कर वह है, जो अन्यों के परामर्श के आधार पर कार्य करता है।'—असंस्कृत व्यक्तियों के लिए शास्त्र ही प्रमाण हैं। शास्त्रों के आदेश केवल बाह्य हैं और जब हम उच्चतम श्रेणी में पहुंच जाते हैं, उस समय वह हमारे ऊपर लागू नहीं रहते। क्योंकि उस अवस्था में स्वभावतः हमें आत्मा के शब्द के अनुकूल ही कर्म करना होता है।

प्रत्येक कर्म पवित्र प्रेरणा के वश में होकर ही करना चाहिए। हमें अपने मन में से स्वार्थपरता की सूक्ष्म छाया को

भी निकाल देना चाहिए; कर्म के विशेष प्रकार को प्राथमिकता देने के भाव को एवं सहानुभूति अथवा प्रशंसा की आकांक्षा को त्याग देना चाहिए। यदि मन को पवित्र करके ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना है तो सत्कर्म इसी भाव से करना चाहिए। स्वार्थी-अहंकार की भावना लेकर जो अपने को इस लोक में देवता समझता है और इंद्रियों के विषय-भोग का ही शिकार रहता है—वह देवता नहीं, दैत्य है—जो अध्यात्म विद्या में भौतिकवाद को और नैतिकता में विषय-भोग को स्थान देता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के नीतिशास्त्र में गुणों के सिद्धांत का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुणों का बंधन ही परिमित शक्तिमत्ता का भाव उत्पन्न करता है। जिन बंधनों का संबंध मन से है, उनका संबंध भूल से आत्मा के साथ जोड़ा जाता है। यद्यपि सत्त्वगुण से आपूर्ण कर्म को सबसे उत्तम प्रकार का कर्म कहा गया है। यह कहा जाता है कि सत्त्वगुण भी बंधन का कारण होता है, क्योंकि एक श्रेष्ठ अथवा उदार इच्छा भी शुद्धतर-अहंकार के भाव को उपजाती है। पूर्ण मोक्ष के लिए अहंकार का सारा अस्तित्व मिट जाना उचित है। अहंकार कितना ही पवित्र क्यों न हो, एक बाधा उत्पन्न करने वाला आचरण है और उसका बंधन ज्ञान और आनंद के साथ है। सब गुणों से ऊपर उठ कर एक अमूर्त तथा विश्वव्यापी दृष्टिकोण को स्वीकार करना—यही आदर्श अवस्था है।

यज्ञों के संबंध में जो वैदिक कल्पना थी—गीता उसे परिवर्तित करके आध्यात्मिक ज्ञान के साथ उसका समन्वय प्रस्तुत करती है। बाह्य उपहार आंतरिक भाव का प्रतीक मात्र है। यज्ञ आत्म-नियंत्रण और आत्म-समर्पण को विकसित करने के उद्देश्य से किए गए प्रयत्न हैं। सच्चा यज्ञ इंद्रियों के सुख का होम कर देने में ही है। यह आहूति जिसे समर्पित की जाती है, वह सर्वोपरि ब्रह्मतत्त्व है, अथवा वही यज्ञपुरुष या यज्ञों का अधिष्ठाता है। हमें यह अनुभव करने की आवश्यकता है कि सब पदार्थ दैवीय शक्ति के द्वारा नियुक्त उच्चतम लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए साधनरूप हैं और इसी दृष्टिकोण से सब कर्मों को ब्रह्मार्पण करके हमें कर्म करने में प्रवृत्त रहना चाहिए। हमारा खान-पान एवं अन्य सभी कर्म, जो हम करें, उसी सत्ता के गौरव के लिए ही करें।

मानवीय आचरण को नियमित करने के लिए भी गीता ने अनेक सामान्य नियमों का विधान किया है। कुछ वाक्यों में मध्यम मार्ग का उपदेश दिया गया है। गीता मनुष्य समाज के वर्णपरक विभागों तथा जीवन की विभिन्न स्थितियों अर्थात् आश्रमों की व्यवस्था को स्वीकार करती है। मनोभाव एवं विचार की दृष्टि से निम्नश्रेणी के स्तर पर अवस्थित मनुष्य एकदम से ऊंची अवस्था में नहीं पहुंच सकते। उन्हें यथार्थ मनुष्यता तक पहुंचाने की प्रक्रिया के लिए निश्चय ही एक दीर्घकाल और यहां तक कि कई पीढ़ियों से भी गुजरने की आवश्यकता है। उन्नत दिशा में उठने के लिए जो चार अवस्थाओं अर्थात्—चार आश्रमों का विधान किया गया है और जो मौलिक रूप से चार प्रकार के व्यक्तियों के अनुकूल हैं—उसे गीता अंगीकार करती है। वर्ण का आधार गुणों को बताते हुए गीता प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ण के कर्तव्यपालन का आदेश करती है। स्वधर्म वह कर्म है, जो अपनी आत्मा के विधान के अनुकूल हो। यदि हम धर्मशास्त्र-विहित कर्तव्यों का पालन करते रहें, तो वही सच्ची पूजा है। मनुष्य-समाज के प्रति प्रत्येक व्यक्ति के कुछ कर्तव्य-कर्म हैं। प्लेटो भी इसी के अनुरूप एक सिद्धांत का समर्थन करता है—'विश्व के नियंता व सर्वशक्तिमान सत्ता ने सब पदार्थों की व्यवस्था उत्कर्ष का विचार आगे रखते हुए की है और उनका आशय संपूर्ण की रक्षा करना है और प्रत्येक भाग, जहां तक संभव है, अपने अनुकूल कार्य तथा मनोवेग रखता है—क्योंकि प्रत्येक चिकित्सक और प्रत्येक कुशल कलाकार—सब-कुछ पूर्ण के प्रति ही करता है, अपने इस प्रयत्न को सर्वसामान्य के कल्याण के लिए, उसी दिशा में मोड़ते हुए एक भाग को संपूर्ण सत्ता के लिए न कि पूर्ण को उसके भाग के लिए।' यद्यपि प्रारंभ में तो वर्ण या जाति का विधान गुणों के ही आधार पर रखा गया था, किंतु बहुत शीघ्र ही वह जन्म का विषय बन गया, क्योंकि यह जानना कठिन है कि कौन क्या गुण रखता है। इसलिए एकमात्र उपलब्ध कसौटी जन्म ही रह जाता है। जन्म और गुणों की गड़बड़ी के कारण ही वर्ण का जो धार्मिक आधार था—उसका मूलोच्छेद हो गया। यह आवश्यक नहीं है कि एक जाति-विशेष में जन्म लेने वाले सभी व्यक्तियों का आचरण वही हो, जिसकी उनसे आशा की जाती है। चूंकि जीवन के तथ्य सदा तार्किक आदर्श के अनुकूल ही नहीं होते, इसलिए संपूर्ण वर्णव्यवस्था की संस्था भंग होती जा रही है। यद्यपि आधुनिक समय के ज्ञान के आधार पर इस व्यवस्था को दूषित ठहराना आसान है, फिर भी हमें न्याय की दृष्टि से यह मानना पड़ेगा कि इसने मनुष्य-समाज का निर्माण परस्पर सद्भावना तथा सहयोग के आधार पर करने का प्रयत्न

शेष पृष्ठ 36 पर

सेवा भी महत्त्वपूर्ण कार्य है और स्वाध्याय का भी अपना महत्त्व है। संस्कृत साहित्य में कहा गया—'स्वाध्याय मा प्रमद'—स्वाध्याय में कभी प्रमाद मत करो, स्वाध्याय करते रहो। स्वाध्याय को सर्वोत्तम माना गया है। इसका कारण यह है कि स्वाध्याय करने से ही ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान प्राप्त करके आदमी सही आचार का पालन कर सकता है। ज्ञान ही नहीं होगा, तो आचार का पालन कैसे होगा? ज्ञान है तो जीवन में अहिंसा आ पाएगी, ईमानदारी आ पाएगी और संयम आ पाएगा। इसके लिए ज्ञान भी सम्यक् होना चाहिए। सम्यक् ज्ञान का ही बड़ा आधार बनता है—स्वाध्याय। स्वाध्याय को सर्वोत्तम तप भी इसीलिए कहा गया होगा। यह तो सर्वविदित है कि ज्ञान लौकिक भी होता है और अलौकिक—यानी आध्यात्मिक भी हो सकता है।

सुष्ठु अध्यायः इति स्वाध्यायः

❑ युवाचार्य महाश्रमण

उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्ययन में एक प्रश्नोत्तर मिलता है। प्रश्न किया गया—**सज्झाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?**—स्वाध्याय करने से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**सज्झाएण नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।**—स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।

हमारे जीवन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है—ज्ञान। जिस आदमी में ज्ञान का अभाव होता है, वह आंखें होते हुए भी एक प्रकार से अंधा है। अंधे आदमी के लिए जैसे बहुत सारी चीजें अज्ञात रह जाती हैं, वैसे ही किसी आदमी के ज्ञान पर भी जब आवरण आया हुआ होता है, तब वह बहुत-सी बातें जान नहीं पाता है। जैन कर्मवाद के अनुसार आठ कर्मों में पहला कर्म है—ज्ञानावरणीय कर्म। यह कर्म हमारे ज्ञान को आवृत कर देता है। जिस प्रकार आंख पर पट्टी लगा लेने से कुछ दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के उदय हो जाने से आदमी ज्ञान से वंचित रह जाता है।

आदमी का यह लक्ष्य होना चाहिए कि उसके जीवन में ज्ञान का विकास हो। ज्ञान का विकास तभी होता है, जब ज्ञानावरणीय कर्म कमजोर पड़ते हैं। ज्ञानावरणीय कर्म को हलका या कमजोर करने का एक उपाय है—स्वाध्याय। प्राकृत भाषा में इसे—'सज्झाय' कहा जाता है। यह 'स्व' और 'अध्याय'—इन दो शब्दों से बना है। अपना अध्ययन करना, अपने बारे में जानना—स्वाध्याय है। स्वाध्याय का सीधा संबंध आत्मा के साथ है। आत्मा के बारे में जान लेने का मतलब है—अध्यात्म के बारे में जान लेना। अध्यात्म को जानने के लिए आध्यात्मिक विषयों का अध्ययन किया जाता है। यह अध्ययन स्वाध्याय का एक प्रकार है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार इस प्रकार भी व्याख्या की जा सकती है—**सुष्ठु अध्यायः इति स्वाध्यायः**—सर्वांगीण रूप में

अच्छी तरह अध्ययन करना स्वाध्याय है। पढ़ना-पढ़ाना आदि स्वाध्याय के ही अंग हैं। पठन-पाठन से ज्ञान पर पड़ा आवरण पतला पड़ता है और तब ज्ञान की रश्मियां प्रकट होने लगती हैं।

लौकिक ज्ञान के लिए विद्यालय हैं। आज तो छोटे-छोटे गांवों में भी विद्यालय मिलते हैं और सरकार शिक्षा के प्रति काफी जागरूक है। निर्धन बच्चों को भी शिक्षा पाने का अवसर मिले—सरकार उसके लिए सचेष्ट है और तदनुरूप शिक्षा की व्यवस्था भी कर रही है। पर, इतने भर से 'ज्ञान के द्वार' खुल जाते हैं—यह नहीं मानना चाहिए। अज्ञान के कारण अनेक रूढ़ियां और अनुचित काम भी होते हैं। शिक्षा का वास्तविक विकास अज्ञान-जनित समस्याओं से छुटकारा दिला सकता है, पर यह देखना जरूरी है कि ऐसा विकास शिक्षा के क्षेत्र में निरंतर चलता रहे, अन्यथा जिस अज्ञानता की बात हम कर रहे हैं, वर्तमान शिक्षा के ढांचे में उससे मुक्त हो पाना कठिन है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में स्वाध्याय का वैशिष्ट्य माना गया है। साधक के लिए स्वाध्याय एक प्रकार का अमृत है। साधक का एक कार्य दूसरों को ज्ञान देना है। पर, जब तक साधक स्वयं ही स्वाध्याय नहीं करेगा, शास्त्रों आदि को नहीं पढ़ेगा—तब तक उसका ज्ञान विकसित नहीं होगा और जब उसका स्वयं का ज्ञान ही विकसित नहीं होगा, तब वह दूसरों को ज्ञान क्या और कैसे दे पाएगा? इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र (आगम) के छब्बीसवें अध्ययन में कहा गया है—

पुच्छेज्जा वंजलिउडो, किं कायव्वं मए इहं।
इच्छं निओइउं भंते!, वेयावच्चे व सज्झाए।।

प्रातःकाल गुरु को वंदन कर शिष्य गुरु से पूछे—गुरुदेव! आज आप मुझे किस कार्य में नियोजित करना चाहेंगे। मेरे सामने दो कार्य हैं—सेवा और स्वाध्याय। आपकी आज्ञा हो तो मैं वृद्ध, ग्लान आदि साधुओं की सेवा करूं। आपकी आज्ञा हो तो मैं स्वाध्याय करूं। जैसा आपका निर्देश होगा—मैं वही कार्य करूंगा। सेवा भी महत्त्वपूर्ण कार्य है और स्वाध्याय का भी अपना महत्त्व है। संस्कृत साहित्य में कहा गया—**स्वाध्यात मा प्रमद**—स्वाध्याय में कभी प्रमाद मत करो, स्वाध्याय करते रहो। स्वाध्याय को सर्वोत्तम माना गया है। इसका कारण यह है कि स्वाध्याय करने से ही ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान प्राप्त करके आदमी सही आचार का पालन कर सकता है। ज्ञान ही नहीं होगा, तो आचार का पालन कैसे होगा? ज्ञान है तो जीवन में अहिंसा आ पाएगी, ईमानदारी आ पाएगी और संयम आ पाएगा। इसके लिए ज्ञान भी सम्यक् होना चाहिए। सम्यक् ज्ञान का ही बड़ा आधार बनता है—स्वाध्याय। स्वाध्याय को सर्वोत्तम तप भी इसीलिए कहा गया होगा।

यह तो सर्वविदित है कि ज्ञान लौकिक भी होता है और अलौकिक—यानी आध्यात्मिक भी हो सकता है। अध्यात्म विद्या के संदर्भ में कहा गया है—

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज, जेण चित्तं णिरूज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज, तं णाणं जिणसासणे।।

जिससे तत्त्व का बोध होता है, चित्त का निरोध होता है, आत्मा विशुद्ध होती है—उसे जिनशासन में ज्ञान कहा गया है।

ज्ञान प्राप्त करने की मन में तड़प होनी चाहिए। ज्ञान प्राप्त करना तपस्या है, साधना है और यदि तड़प हो तो उसे वृद्धावस्था में भी प्राप्त किया जा सकता है। एक उदाहरण से इस कथन की पुष्टि की जा सकती है—तेरापंथ धर्मसंघ के उच्चकोटि के वरिष्ठ मुनिश्री (मंत्री मुनि) मगनलालजी स्वामी प्रौढ़ अवस्था में थे और गुरुदेवश्री तुलसी की उन्हें कुछ प्रेरणा मिली। उन्होंने तदनुरूप प्रयास किया और 'उत्तराध्ययन सूत्र' के अनेक अध्ययन कंठस्थ कर लिए। यद्यपि बचपन में जिस आसानी से यह हो सकता था, वृद्धावस्था में थोड़ी कठिनाई हो सकती है, किंतु पुरुषार्थ हो और बुद्धि हो—तो कुछ किया जाना संभव हो सकता है। हमारे यहां साधु-संस्था में 'कंठस्थ' करने की परंपरा रही है। हजारों श्लोक स्मरण कर लिए जाते हैं। अतः माना जा सकता है कि कुछ परिश्रम किया जाए, तो ज्ञान का विकास सहज ही संभव हो सकता है। किसी भाषा को सीखना है, तो कुछ पुरुषार्थ करना होगा। पहले उस भाषा की व्याकरण को सीखना होगा, साहित्य को पढ़ना होगा, तब कहीं उस भाषा का अच्छा बोध हो सकता है। संस्कृत साहित्य में कहा गया है—

विना व्याकरणेनान्धः बधिरः कोशवर्जितः।
साहित्यरहितः पंगुः मूकस्तर्कविवर्जितः।।

किसी भाषा पर अधिकार प्राप्त करना है, तो व्याकरण का ज्ञान अच्छी तरह करना होगा—तब प्रकाश मिलेगा। अगर व्याकरण का ज्ञान नहीं है, तो भाषा की दृष्टि से उस आदमी को अंधा माना गया है। व्याकरण से आंखें खुलती हैं। जिस

आदमी के पास शब्दभंडार नहीं होता है, वह आदमी बहरा होता है। क्योंकि जब कोई आदमी भाषण देगा, तो वह नए-नए शब्दों का प्रयोग करेगा और यदि श्रोता को शब्दों का ज्ञान नहीं होगा, तो उसके लिए उन शब्दों को सुनना और न सुनना प्रायः समान होगा। इसलिए शब्दभंडार के बिना आदमी को बहरा बताया गया है। जिसकी साहित्य में गति नहीं होती, वह भाषा की दृष्टि से पंगु होता है और जिसके पास तर्क-बल नहीं होता, वह सुन लेता है, किंतु प्रश्न नहीं उठा सकता। इसलिए उसे मूक कहा गया है। परिश्रम करने से आदमी किसी भी भाषा को आत्मसात कर सकता है और शास्त्रों की गहराई में भी जा सकता है। पर, ज्ञान के प्रति जिसकी रुचि ही नहीं होती—वह कैसे और कितना ज्ञान का विकास कर सकेगा?

पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी बड़े ही ज्ञानी पुरुष थे। वे शास्त्रों के वेत्ता भी थे। कई भाषाओं के भी ज्ञाता थे। उन्होंने अपने कितने ही शिष्यों को ज्ञान का दान दिया। एक बार उन्होंने साधुओं की सभा में कहा—तुम लोगों को 'तत्त्वज्ञान' का विकास करना चाहिए। हम लोग हमेशा तुम्हारे सामने नहीं रहेंगे। आखिर स्वयं को ज्ञान का विकास करना चाहिए। अपना ज्ञान ज्यादा काम आता है। दूसरों के भरोसे ज्यादा नहीं रहना चाहिए। ज्ञान के बिना आदमी सद्गुणों से वंचित भी रह सकता है और अपना नुकसान भी कर सकता है। इसलिए व्यक्ति ज्ञान-प्राप्ति के लिए अध्यवसाय-युक्त बने।

मात्र साधु-साध्वियों को ही नहीं, गृहस्थों को भी आध्यात्मिक ज्ञान का विकास करना चाहिए। आजकल ज्ञान प्राप्ति की बहुत सुलभता है। विपुल साहित्य और अनुकूल साधन-सामग्री उपलब्ध है। अब तो 'इंटरनेट' आदि के माध्यम से भी ज्ञान आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। ऐसी स्थितियों में समय का कुछ उपयोग ज्ञानात्मक विकास में भी यथासंभव करना चाहिए, ताकि जीवन में कुछ प्राप्त हो सके। जिसके पास ज्ञान नहीं होता, उसके सामने कई कठिनाइयां पैदा हो सकती हैं। अतः ज्ञान का सम्यक् विकास होना चाहिए। चाहे अध्यात्म का क्षेत्र हो अथवा व्यवहार का क्षेत्र हो—ज्ञान का अभाव सर्वत्र त्याज्य होना चाहिए। इसीलिए आर्षवाणी में बड़ा सुंदर उल्लेख है—ज्ञान को आवृत करने वाला ज्ञानावरणीय कर्म स्वाध्याय के द्वारा, पठन-पाठन, अनुप्रेक्षा और जिज्ञासा आदि के द्वारा क्षीण होता है और मनुष्य में ज्ञान का विकास होने लगता है। ज्ञान का विकास होना ही जीवन की बड़ी उपलब्धि है। अतः हम अपने ज्ञान का विकास करें, जिससे हमें प्रकाश प्राप्त हो सके। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

- आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।
- रचनाएं 'फुलस्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।
- फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

दो किस्तों में समाप्य
आलेख की पहली कड़ी

अनशन : दमन नहीं; शोधन

❑ मुनि मदनकुमार

अनशन संकल्प-शक्ति का अनूठा प्रयोग है। यह आत्मा का आरोहण है तथा समाधिमय जीवन की आधारशिला है। मृत्यु अवश्यंभावी है। जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः—जो जन्मता है, वह अवश्य ही मरता है—यह अटल सिद्धांत है— फिर चाहे कोई राजा हो या रंक, स्त्री हो या पुरुष। मृत्यु नियति है और उसे टाला नहीं जा सकता। अनशन के द्वारा जीवन को सफल बनाया जा सकता है। महान सौभाग्य से ही जीवन में संथारे के क्षण उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः जरा और रोग से जर्जर शरीर का सार खींचने के लिए अनशन की शरण लेनी चाहिए। अनशन उच्च भावों का प्रतीक है और वीतरागता की दिशा में चरण-न्यास है।

जीवन की आकांक्षा और मरण की इच्छा से मुक्त होकर किया जाने वाला प्रयोग अनशन है। मृत्यु के समाधिमय उपक्रम को हम आध्यात्मिक उपक्रम भी कह सकते हैं। आचारांग सूत्र में कहा गया है कि 'अनशन-काल' में जीवन, सुख आदि अनुकूल परिणामों और मृत्यु, दुख आदि प्रतिकूल परिणामों में सम रहना चाहिए। इस समभाव का आलंबन है—निर्जरा। अनशन करने वाले की दृष्टि इस बात पर लगी रहती है कि कर्मों का अधिक से अधिक क्षय हो। जो निर्जरादर्शी होता है, वही मध्यस्थ रह सकता है और समाधि का अनुभव कर सकता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—ये समाधि के पांच अंग हैं। अनशन करने वाले को इस 'पंचांग समाधि' का अनुभव करना चाहिए। जीवन का ध्येय अध्यात्म की आकांक्षा होना चाहिए। उसका पहला चरण है—शरीर की प्रवृत्ति और उसके ममत्व का विसर्जन। इस विसर्जन के बाद साधक जब भीतर की ओर झांकता है तो भीतर में राग-द्वेष की ग्रंथियां मिलती हैं, वहां शुद्ध अध्यात्म दीख नहीं पड़ता। जो साधक इन ग्रंथियों को खोल कर फिर भीतर की गहराई में झांकता है तो उसे शुद्ध अध्यात्म, आत्मा के निरावरण चैतन्यरूप का दर्शन होता है। इस परम सत्य के साक्षात्कार की प्रेरणा देते हुए कहा गया—

जीवियं णाभिकंखेज्जा, मरणं णोवि पत्थए।
दुहतोवि ण सज्जेज्जा, जीविते मरणे तहा।।

अनशन-काल में जीवन की आकांक्षा न करें और मरण की इच्छा न करें। जीवन और मरण—दोनों में ही आसक्त न बनें।

मज्झत्थो णिज्जरापेही, समाहिमणुपालए।
अंतो बहिं विउसिज्ज, अज्झत्थं सुद्धमेसए।।

मध्यस्थ और निर्जरादर्शी समाधि का अनुपालन करें। राग-द्वेष आदि आंतरिक और शरीर आदि बाह्य वस्तुओं का विसर्जन कर शुद्ध अध्यात्म की आकांक्षा करें।

अनशन : अभय की साधना

अभय और वैराग्य की उच्च साधना अनशन है। जैन आगमों में इसकी समग्र प्रक्रिया है। इसका आधार समत्व और भावोत्कर्ष है। जीवन में मृत्यु से बड़ा कष्ट नहीं है। मृत्यु भय पैदा करती है और अनशन व्यक्ति को अभय बनाता है। साधक मृत्यु के भय से बचना चाहता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में—'भगवान महावीर ने मृत्यु के भय से भीत न होने की या मृत्यु के साथ मैत्री स्थापित करने की दीर्घकालीन साधना की विधि बतलाई थी। पारिभाषिक शब्दावली में उसे 'संलेखना' कहा जाता है। इसकी उत्कृष्ट अवधि बारह वर्ष की होती है। एक दिन में कोई व्यक्ति मृत्यु को अपना मित्र नहीं बना सकता। शरीर के प्रति हमारा सघन मोह है। उसे थोड़ी-सी क्षति पहुंचाने वाले से हम डरते हैं। मृत्यु शरीर को पूर्णतः निर्जीव बना देती है। उससे भय हो यह स्वाभाविक है। उसका नाम सुनते ही एक घबराहट पैदा हो जाती है। बाद में मरने वाला शायद पहले ही मर जाता है। मृत्यु के साथ परिचित होते-होते हम उसे अपना मित्र बना पाते हैं। उसके साथ निषेधात्मक परिचय करना होता है। शरीर के प्रति मूर्च्छा को कम करना और उसे पोषण देने वाले आहार को कम करना—ये दोनों प्रवृत्तियां प्रारंभ होती हैं। इसका अर्थ है कि मृत्यु से परिचय प्राप्त हो जाता है। जैसे-जैसे शरीर की मूर्च्छा घटती है और आहार की आसक्ति कम होती है, वैसे-वैसे मृत्यु के प्रति होने वाली भय की भावना हटती जाती है। एक दिन ऐसा आता है कि हम शरीर, आहार और मृत्यु को एक ही दृष्टि से देखने लग जाते हैं। न किसी के प्रति मूर्च्छा और न किसी के प्रति भय। वह अपने भीतर लौट आता है। यह कोई सैद्धांतिक निरूपण ही नहीं है, यह जीवन-व्यवहार में उतरने वाला तथ्य है। ऐसे तथ्य अनेक बार साक्षात देखे हैं।'

मृत्यु सबसे बड़ी असमाधि है। यदि मनुष्य उससे डरे नहीं, मृत्यु के साथ में मैत्री संबंध स्थापित कर ले तो यह सबसे बड़ी समाधि भी है। इस समाधि को ध्यान में रख कर ही जैन आचार्यों ने 'मृत्यु-महोत्सव' जैसे ग्रंथों का प्रणयन किया। मृत्यु से मृत्युंजयी बनने की कला अनशन है। इसको अध्यात्म-साधना की सर्वोच्च उपलब्धि कहा जा सकता है। निर्वाण का आधार है—आराधना और उसका एक सफल प्रयोग है—अनशन। आत्मा को निर्मल और भारहीन बनाने की पद्धति है—आराधना। मृत्यु को महोत्सव बनाने की प्रक्रिया है—अनशन। आचार्य पूज्यपाद ने 'मृत्यु-महोत्सव' ग्रंथ में लिखा है—'जीवन भर तपे हुए तप का, पाले हुए व्रत का और पढ़े हुए श्रुत का फल है—समाधि मृत्यु।' कहा है—

तप्तस्य तपसश्चापि, पालितस्य व्रतस्य च।
पठितस्य श्रुतस्यापि, फलं मृत्युः समाधिना।।

अनशन विलक्षण साधना है। अंतिम समय में लोग मौत से भय खाते हैं, किंतु अनशन की आराधना करने वाले भय-मुक्त हो जाते हैं। अनशन का आधार एकमात्र आत्मशुद्धि और आत्म-कल्याण का मनोभाव है। कुछ लोग इसे आत्म-हत्या समझ बैठते हैं। यह भ्रम एवं भूल है। आत्महत्या वह है—जब मनुष्य जीवन से ऊब जाता है, क्रोध-मान-माया और लोभ के वशीभूत होकर अपने जीवन से निराश हो, उसे छोड़ता है। अनशन आत्महत्या नहीं, अपितु आत्म-साधना का उत्कृष्ट उदाहरण है। अनशन को जैन पारिभाषिक शब्दावली में 'संथारा' भी कहा जाता है। वैसे 'संथारा' नाम बिछौने का है। प्राचीनकाल में अनशन स्वीकार करने वाला घास, चावल आदि की भूसी का बिछौना करके उस पर लेटता था। उस 'संथार' के आधार पर अनशन का नाम संथारा हो गया।

प्रत्येक व्यक्ति यह सचाई स्वीकार करे कि मौत जीवन की अवश्यंभावी घटना है। कोई दो दिन पहले और कोई दो दिन बाद इस संसार से विदा होने वाला है। अमर कोई नहीं है। फिर क्यों न कलात्मक ढंग से मौत का वरण किया जाए ?

उपादेय है संथारा

अनशन करने की तीर्थंकरों ने आज्ञा प्रदान की है तथा जैन धर्म के सभी तीर्थंकरों ने स्वयं संथारा किया है। उनका निर्देश है कि व्यक्ति ऊर्ध्वलक्षी होकर, मोक्ष को अपना लक्ष्य बनाकर जीए। किसी भी स्थिति में, कहीं भी विषयों के प्रति आसक्त न हो। शरीर को धारण करने का और उसको उचित आहार से पुष्ट रखने का एकमात्र उद्देश्य है कि पूर्वसंचित कर्मों का क्षय किया जा सके और संयम की पालना से नए कर्मों को रोका जा सके। शरीर-धारण का यह आध्यात्मिक अथवा पारमार्थिक हेतु है। उत्तराध्ययन सूत्र में श्रमण निर्ग्रंथ के लिए—**कालकंखी परिव्वए**—कहा है, जिसका तात्पर्य है कि वह पंडित मरण के काल की आकांक्षा करने वाला होकर विचरण करे। अनशन की प्रेरणा में कहा गया है—**तओ काले अभिप्पेए, भेयं देहस्स कंखए**—अर्थात् जब मरण अभिप्रेत हो, उस समय शरीर के भेद की प्रतीक्षा करें— उसकी सार-संभाल न करें। यहां यह प्रश्न स्वाभाविक है कि क्या कभी मरण भी अभिप्रेत होता है ?

आदमी मरना कब और क्यों चाहता है ? इस प्रश्न का समाधान है कि जब वह यह देखता है कि उसकी मन, वचन

और काया की शक्ति क्षीण हो रही है तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र के गुणों की अभिवृद्धि नहीं हो रही है—तब उसे मरण अभिप्रेत होता है। इसकी ध्वनि यह है कि मनुष्य जैसे जीने के लिए स्वतंत्र है, वैसे ही मरने के लिए भी स्वतंत्र है। मरण भी वांछनीय है। उसकी शर्त है कि वह आवेशकृत न हो। जब यह स्पष्ट प्रतीत होने लगे कि 'योग' क्षीण हो रहे हैं, उस समय समाधिपूर्ण मरण वांछनीय है। व्यक्ति शरीर के भेद की प्रतीक्षा करे। इस संदर्भ में भिन्न-भिन्न अभिमत हैं। चूर्णिकार का मानना है कि औदारिक शरीर (स्थूल शरीर) के भेद की नहीं, किंतु आठ प्रकार के कर्मरूपी शरीर (सूक्ष्म शरीर) के भेद की आकांक्षा करे—**भिद्यते इति भेदः, अष्ट विधकर्म्मशरीरभेदं कांक्षति, न तूदारिकस्य**।—वृत्तिकार ने माना है कि मरण की आशंसा न करें, किंतु शरीर की सार-संभाल न करते हुए मरण की प्रतीक्षा करें। मरण की आशंसा वर्जनीय है।

अनशन के समर्थन में जैनागम कहते हैं—**लाभंतरे जीविय वूहइत्ता, पच्छा परिन्नाय मलावधंसी**।—इसका तात्पर्य है कि जब तक नए-नए गुणों की उपलब्धि हो, तब तक जीवन को पोषण दें। जब वह न हो तब विचार-विमर्शपूर्वक इस शरीर का ध्वंस कर डालें। यहां परिज्ञा का अर्थ है—सभी प्रकार से जान कर। परिज्ञा के दो प्रकार हैं—ज्ञ-परिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा। व्यक्ति ज्ञ-परिज्ञा से जान लेता है कि अब मैं पूर्व की भांति ज्ञान, दर्शन और चारित्र के गुणों की विशिष्ट प्राप्ति करने में असमर्थ हूं, निर्जरा भी कम हो रही है—क्योंकि शरीर क्षीण है। वह बुढ़ापे से जीर्ण और रोगों से आक्रांत है, अतः अब धर्माराधना भी नहीं हो रही है। यह जान कर वह संलेखना करता है और अंत में यावज्जीवन अनशन कर शरीर को त्याग देता है।

प्रश्न होता है कि अनशन कब करें? सूत्रकार ने इसके समाधान में आयु-सीमा का कोई निर्धारण नहीं किया है और न ही रोग या निरोग अवस्था का निर्देश दिया है। इस गाथा में एक भावात्मक सीमा का निर्देश है। जब तक ज्ञान, दर्शन और चारित्र की नई-नई उपलब्धियां होती रहें, तब तक शरीर को धारण करना चाहिए। जब अपने शरीर से कोई विशिष्ट उपलब्धि न हो, उस अवस्था में संलेखना की आराधना कर अंत में अनशन कर देना चाहिए। सूत्रकृतांग में आबाधा—बुढापा या रोग के होने या न होने; दोनों अवस्थाओं में—अनशन की विधि का निर्देश मिलता है। यह निर्देश साधु और श्रमणोपासक—दोनों के लिए है।

जैन परंपरा में मरण के दो प्रकार विवक्षित हैं—अकाम मरण और सकाम मरण। जो व्यक्ति विषय में आसक्त होने के कारण मरना नहीं चाहता, किंतु आयु पूर्ण होने पर वह मरता है—उसका मरण विवशता की स्थिति में होता है। इसलिए उसे अकाम-मरण कहा जाता है। इसे बालमरण, अविरति का मरण भी कहा जा सकता है। जो व्यक्ति विषयों के प्रति अनासक्त होने के कारण मरण-काल में भयभीत नहीं होता, किंतु उसे जीवन की भांति उत्सव-रूप मानता है—उस व्यक्ति के मरण को सकाम-मरण कहा जाता है। इसे पंडित-मरण, विरति का मरण भी कहा जा सकता है। सकाम-मरण काम्य है और उससे चित्त को भावित करना चाहिए। सकाम-मरण के महत्त्व को रेखांकित करते हुए आगमकार ने कहा है—पंडित, चारित्रवान व्यक्तियों का सकाम मरण एक बार ही होता है। यह कथन 'केवली' की अपेक्षा से है। अन्य चारित्रवान (सर्वव्रती) का सकाम-मरण सात-आठ बार हो सकता है। भगवान महावीर ने अनशन को सर्वथा करणीय बताते हुए कहा है—

अह कालंमि संपत्ते, आघायाय समुस्सयं।
सकाममरणं मरई, तिण्हमन्नयरं मुणी।।

मुनि मरण काल प्राप्त होने पर संलेखना के द्वारा शरीर का त्याग करता है, भक्त-परिज्ञा, इंगिनी या प्रायोपगमन—इन तीनों में से किसी एक को स्वीकार कर सकाम-मरण से मरता है। मुनि अपनी संयम-यात्रा का निर्वहन करते-करते जब यह देखता है कि शरीर और इंद्रियों की क्षमता क्षीण हो रही है, योग क्षीण हो रहे हैं, स्वाध्याय आदि में बाधा आ रही है—तब वह शरीर-त्याग की तैयारी में लग जाए। वह सोचे, मुझे जो करना था, वह मैं कर चुका हूं। मुझ पर जो दायित्व था, उसका मैंने उचित निर्वाह किया है। अब मरण काल निकट है, अतः मुझे बारह वर्षों की संलेखना में लग जाना चाहिए। यह सोच कर वह तपोयोग में संलग्न हो जाता है। अंत में वह अनशन करता है।

भक्त परिज्ञा, इंगिनी और पादोपगमन—ये अनशन के तीन प्रकार हैं। इन तीनों में से किसी एक के द्वारा देह-त्याग करना चाहिए। इसी तरह मरण के भी ये तीन प्रकार हो जाते हैं। चतुर्विध आहार तथा बाह्य और आभ्यंतर उपधि का जो यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान किया जाता है—उस अनशन को भक्त-परिज्ञा कहा जाता है। इंगिनी में अनशन करने वाला निश्चित स्थान में ही रहता है, उससे बाहर नहीं

जाता। पादोपगमन में अनशन करने वाला कटे हुए वृक्ष की भांति स्थिर रहता है और शरीर की सार-संभाल नहीं करता।

जैन परंपरा में अनशन का प्रयोग श्रमण और श्रमणोपासक, दोनों ही करते हैं। यह दोनों का मनोरथ है। स्थानांग सूत्र में कहा गया है—**कया णं अहं अपच्छिम-मारणंतियसंलेहणा—झूसणा—झूसिते भत्तपाणपडिया-इक्खिते पाओवगते कालं अणवकंखमाणे विहरिस्सामि? एवं समणसा सवयसा सकायसा पागडेमाणे समणे निग्गंथे--समणोवासए महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति**—कब मैं अपश्चिम मारणांतिक संलेखना की आराधना से युक्त होकर, भक्तपान का परित्याग कर, प्रायोपगमन अनशन कर मृत्यु की आकांक्षा नहीं करता हुआ विहरण करूंगा? इस प्रकार शोभन मन, वचन और काया से उक्त भावना व्यक्त करता हुआ श्रमण-निर्ग्रंथ और श्रमणोपासक महानिर्जरा तथा महापर्यवसान वाला होता है।

आचार्यश्री तुलसी कहते हैं—'बिना आवेश, बिना निराशा, बिना मरणेच्छा अनशन करना मरने की कला है। अनशन आत्महत्या भी है—जो अनशन किसी ख्वाहिश से होता है, निराशा से होता है, आवेश की स्थिति में होता है—वह बुरा है, आत्महत्या है। किंतु, जो अनशन साधना के लिए होता है—वह तपस्या है, मौत की कला है। ऐसी मौत महोत्सव है। हमारे अनेक साधु-साध्वियां ऐसे हुए हैं, जिन्होंने कलापूर्ण मौत का दृश्य दिखलाया है। साधु-साध्वियां ही क्यों, बहुत-से श्रावक-श्राविकाएं भी ऐसे हुए हैं—जिन्होंने हंसते-खिलते इस नश्वर शरीर से विदा ली है। वस्तुतः त्राहि-त्राहि कर मरना जीवन की बहुत बड़ी हार है। हंसते-हंसते मरना जीवन की बहुत बड़ी विजय है।'

अनशन आध्यात्मिक तत्त्व है। इसे समझने के लिए लोकोत्तर दृष्टि का विकास जरूरी है। जीवन के संध्याकाल में जब आहार और औषधि प्रयोग, दोनों ही व्यर्थ हो जाते हैं, तब अनशन का काल समझना चाहिए। आगम का उद्घोष है—**मरणसमं नत्थि भयं**—मरण के समान दूसरा कोई भय नहीं है। धर्म इस भय से त्राण दे सकता है। इस शाश्वत स्वर के आधार पर कहा जा सकता है कि जीवन के अंतकाल में अनशनपूर्वक मृत्यु का वरण करना चाहिए। महान वैज्ञानिक आइंस्टाइन को डाक्टर ने कहा—एक ऑपरेशन और करना होगा। आइंस्टाइन ने कहा—मैं हठपूर्वक जीना नहीं चाहता। मुझे जितते समय जीना था, जी लिया। जो काम करना था, कर लिया। अब मेरे मन में जीने की कोई आकांक्षा नहीं है।

अनशन संकल्प-शक्ति का अनूठा प्रयोग है। यह आत्मा का आरोहण है तथा समाधिमय जीवन की आधारशिला है। मृत्यु अवश्यंभावी है। **जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः**—जो जन्मता है, वह अवश्य ही मरता है—यह अटल सिद्धांत है—फिर चाहे कोई राजा हो या रंक, स्त्री हो या पुरुष। मृत्यु नियति है और उसे टाला नहीं जा सकता। अनशन के द्वारा जीवन को सफल बनाया जा सकता है। महान सौभाग्य से ही जीवन में संथारे के क्षण उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः जरा और रोग से जर्जर शरीर का सार खींचने के लिए अनशन की शरण लेनी चाहिए। अनशन उच्च भावों का प्रतीक है और वीतरागता की दिशा में चरण-न्यास है। यह भाग्योदय की महान सूचना है। इसके लिए दृढ़ इच्छाशक्ति चाहिए। संस्कृत साहित्य में कहा गया है—

न तद् दूरं यदश्वेषु, यच्चाग्नौ यच्च मारुते।
विषे च रुधिरप्राप्ते, साधौ च कृतनिश्चये।।

अश्व, अग्नि और पवन के लिए कुछ भी दूर नहीं होता। जो विष रक्तगत हो जाता है, उसके लिए मारना सरल हो जाता है। वैसे ही संकल्पवान व्यक्ति के लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं होता।

संथारा वीरवृत्ति है। व्यक्ति को वीरवृत्ति से प्राणों का उत्सर्ग करना चाहिए। महामना आचार्यश्री भिक्षु के शब्दों में—जब अन्न का स्वाद मिट्टी जैसा लगने लगे तब मृत्युकाल निकट समझ कर अनशन की आराधना करनी चाहिए। अनशन साहस और वैराग्य की पराकाष्ठा है। यह भोगवादी युग के लिए एक आश्चर्य है। अनशन जीवन का उत्कर्ष है और मृत्यु की कला का दर्शन है। अशन जीवन की आवश्यकता है और उसे सदा के लिए सर्वथा अस्वीकार कर देना महान आत्मबल का परिचायक है। अनशन का एकमात्र उद्देश्य आत्म-विशुद्धि है और यह मृत्यु की कला का श्रेष्ठ प्रयोग है। अनशन दमन नहीं, शोधन की प्रक्रिया है। इसमें मृत्यु की आकांक्षा और भय, दोनों ही नहीं हैं। भोजन शरीर की मांग है और जब यह मांग समाप्त हो जाती है तभी संथारा किया जाता है। इस आत्मशोधक प्रयोग को आत्महत्या कहना अध्यात्म के सर्वोत्तम प्रयोग पर कुठाराघात है। शरीर का छूटना नियति है और अनशनपूर्वक छोड़ना पराक्रम। यह पराक्रम अत्यंत कल्याणकारी है। मृत्यु के समय कायरता और संक्लिष्ट परिणाम अभीष्ट नहीं है। अनशन त्याग की पराकाष्ठा है और यह प्रसन्न मन से ही किया जाता है। जैन धर्म में अनशनपूर्वक मृत्यु को शुभ

माना जाता है। इसे समाधिमरण भी कहते हैं। काका कालेलकर के शब्दों में—संथारा मृत्यु की कला है। मृत्यु अनशन का उद्देश्य नहीं है, यह तो गौण परिणाम है।

संलेखना का स्वरूप

संलेखना का सामान्य अर्थ है—अनशन की पूर्व-तैयारी। जैन आगम साहित्य में प्रायः अनशन के पूर्व संलेखना की आराधना का निर्देश है। इसका पारिभाषिक अर्थ इस प्रकार है—'शरीर और कषायों का भली-भांति लेखन करना, कृश करना—संलेखना है, अर्थात् शरीर और कषाय को पुष्ट करने वाले कारणों को उत्तरोत्तर क्षीण करते हुए काय और कषाय को सम्यक् प्रकार से कृश करने का नाम संलेखना है।' संलेखना दो प्रकार की होती है—आभ्यंतर और बाह्य। कषायों की कृशता आभ्यंतर संलेखना है और शरीर की कृशता बाह्य-संलेखना है। बाह्य-संलेखना को द्रव्य-संलेखना भी कहा जाता है। क्रोधादि कषायरहित और अनंत ज्ञानादि गुणरूप परमात्म पदार्थ में स्थित होकर रागादि विकल्पों को कृश करना भाव-संलेखना है। उस भाव-संलेखना के लिए कायक्लेश रूप अनुष्ठान करना अर्थात् भोजन आदि का त्याग कर शरीर को कृश करना द्रव्य-संलेखना है। आचारांग में बताया गया है कि जब यह अनुभव हो कि इस शरीर को धारण करने में मैं ग्लान हो रहा हूं, तब वह क्रम से आहार का संकोच करे, संलेखना करे—आहार संकोच के द्वारा शरीर को कृश करे। संलेखना के तीन काल हैं—(i) जघन्य—छह मास का काल (ii) मध्यम—एक वर्ष का काल और (iii) उत्कृष्ट—बारह वर्ष का काल।

रोग से आक्रांत होने पर जो ऐसा अनुभव करता है कि मैं यथासमय आवश्यक क्रियाएं करने के लिए इस शरीर को वहन करने में असमर्थ हूं, वह क्रमशः आहार को कम करे। सूत्रकार ने समाधि-मरण के लिए की जाने वाली संलेखना-विधि का प्रतिपादन किया है। उसका पहला अंग है—आहार का संवर्तन—अल्पीकरण। उसका दूसरा अंग है—कषायों का कृशीकरण। आहार का संवर्तन करना द्रव्य-संलेखना है और कषायों को कृश करना भाव-संलेखना है। इस विषय में आचारांग चूर्णिकार का मत यह है—**अन्नोवि ततो साहू कसाए पयणुए करेति, संलेहणाकाले विसेसेणं, कोइ सव्वे कसाए खवेति**—मुनि कषायों को कृश करता है, किंतु संलेखना काल में वह विशेष रूप से कषायों को कृश करने का प्रयत्न करता है और कोई मुनि तो सभी कषायों का क्षय कर डालता है। संलेखना का तीसरा अंग है—कायोत्सर्ग और चौथा अंग है—समता, वासीचंदनतुल्यता—अर्थात् वसूले से शरीर को काटने या शरीर पर चंदन का लेप करना—इन दोनों स्थितियों में ही सम रहना। दोनों ओर से छिला जाता हुआ काष्ठ का फलक जैसे बाहर से व भीतर से कृश होता जाता है, वैसे ही तपस्या के द्वारा जिसका बाह्य शरीर तथा आंतरिक कषाय कृश हो जाते हैं—वह रोष और तोष की सीमा को अतिक्रांत कर जाते हैं।

शरीर के ग्लान होने पर व्यक्ति को समाधिमरण की तैयारी—संलेखना प्रारंभ कर देनी चाहिए। आचारांग चूर्णि में त्रिविध उत्थान का निर्देश है—(i) दीक्षा लेना—संयम का उत्थान, (ii) ग्रामानुग्राम विहार करना—अभ्युद्यत विहार का उत्थान और (iii) शारीरिक अशक्ति का अनुभव होने पर संलेखना करना—अभ्युद्यत मरण का उत्थान।

उत्कृष्ट संलेखना के काल में प्रथम चार वर्षों में दूध, घी आदि का त्याग अथवा आचाम्ल किया जाता है। सूत्र में प्रथम चार वर्षों में विचित्र-तप करने का उल्लेख नहीं है। किंतु वृत्तिकार शांत्याचार्य ने निशीथ चूर्णि के आधार पर इसका अर्थ यह किया है कि संलेखना करने वाला विचित्र-तप के पारण में विकृतियों का परित्याग करे। प्रवचनसारोद्धार में भी यही क्रम है। प्रथम चार वर्षों में विचित्र-तप किया जाता है और उसके पारण में यथेष्ट भोजन किया जाता है। दूसरे चार वर्षों में विचित्र-तप किया जाता है, किंतु पारण में विकृति (घी, दूध) का परित्याग किया जाता है। आगे का क्रम समान है। उत्तराध्ययन के अनुसार इस संलेखना का पूर्ण क्रम इस प्रकार है—

प्रथम चार वर्ष	–	विकृति (दूध, घी) का परित्याग अथवा आचाम्ल।
द्वितीय चार वर्ष	–	विचित्र-तप—उपवास, बेला, तेला आदि और पारण में यथेष्ट भोजन।
नौवें और दसवें वर्ष	–	एकांतर उपवास और पारण में आचाम्ल।
ग्यारहवें वर्ष की प्रथम छमाही	–	उपवास या बेला।
ग्यारहवें वर्ष की द्वितीय छमाही	–	विकृष्ट तप—तेला, चोला आदि तप।

समूचे ग्यारहवें वर्ष में पारण के दिन – आचाम्ल। प्रथम छमाही में आचाम्ल के दिन ऊनोदरी की जाती है और दूसरी छमाही में उस दिन पेट भर भोजन किया जाता है।

बारहवें वर्ष में – कोटि सहित आचाम्ल—अर्थात् निरंतर आचाम्ल, अथवा प्रथम दिन आचाम्ल। दूसरे दिन कोई दूसरा तप और तीसरे दिन फिर आचाम्ल।

बारह वर्ष के अंत में – अर्द्ध मासिक या मासिक अनशन। भक्त-परिज्ञा आदि निशीथ चूर्णि के अनुसार बारहवें वर्ष में क्रमशः आहार की इस प्रकार कमी की जाती है कि जिससे आहार और आयु एक साथ ही समाप्त हो। उस वर्ष के अंतिम चार महीनों में मुंह में तैल भरकर रखा जाता है। मुखयंत्र विसंवादी न हो—नमस्कार मंत्र आदि का उच्चारण करने में असमर्थ न हो—यह उसका प्रयोजन है।

रत्न करंडक श्रावकाचार में आहार के अल्पीकरण का क्रम इस प्रकार है—पहले अन्न का परित्याग कर दुग्धपान का अभ्यास किया जाता है। तत्पश्चात् दुग्धपान का त्याग कर छाछ या गर्म जल पीने का अभ्यास किया जाता है। फिर यथाशक्ति उपवास करते हुए जल आदि का भी परित्याग किया जाता है।

आचार्य शिवकोटि ने छह प्रकार के बाह्य तप को बाह्य-संलेखना का साधन माना है। संलेखना का दूसरा क्रम एक दिन उपवास और दूसरे दिन वृत्ति परिसंख्यान तप है। बारह भिक्षु प्रतिमाओं को भी संलेखना का साधन माना है। शरीर संलेखना के इन अनेक विकल्पों में आचाम्ल-तप उत्कृष्ट साधन है। संलेखना करने वाला बेला, तेला, चोला, पंचोला आदि तप करके पारण में मित और हलका आहार करता है। आचार्य शिवकोटि के शब्दों में संलेखना के लिए वही तप या उसका वही क्रम अंगीकार करना चाहिए जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और शरीर-धातु के अनुकूल हो। संलेखना का जो क्रम बतलाया गया है—वही क्रम है, ऐसा नियम नहीं है। जिस प्रकार शरीर का क्रमशः संलेखन (तनूकरण) हो, वही प्रकार अंगीकरणीय है।

रत्न करंडक श्रावकाचार में उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और असाध्य रोग उत्पन्न होने पर धर्म की आराधना के लिए शरीर त्यागने को संलेखना कहा गया है।

उपसर्गे दुर्भिक्षे, जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः।। ❖

क्रमशः शेष अगले अंक में

वैयक्तिक विकास की शुरुआत बाल्यावस्था से ही लेनी चाहिए। प्रारंभिक स्थिति में बालक सभी–कुछ अपना बना कर बैठते हैं। यह स्वाभाविक है, होना भी चाहिए। लेकिन इस तथ्य का महत्त्व न जानने वाला व्यक्ति बालक को घटिया व स्वार्थी कह कर उसकी निंदा करता है। माता–पिता, अध्यापक और धर्माभिमानी लोग उसे परोपकारी, उदार आदि बनने का उपदेश देते हैं और कभी–कभार यह उसका कर्तव्य ठहरा देते हैं। लेकिन यह गलत है। ऐसा करके व्यक्ति को विकसित होने देने की बजाय उसे तोड़ा जाता है। मैं, मेरा, ममत्व आदि ही सब, समष्टिगत, निर्ममत्व की बुनियाद हैं। जो बलवान नहीं होगा, वह दूसरों की रक्षा कैसे कर सकेगा? जो अलग रख पाना नहीं जानता, वह साथ रखने का महत्त्व कैसे समझ सकेगा? जो अपनी जरूरतों का सम्मान नहीं कर सकता, वह दूसरों की जरूरतों का सम्मान कैसे करेगा? इस तरह व्यक्तित्व की पहचान में समूहगत जीवन का बल है।

उक्त वैयक्तिक विकास में आवश्यक ऐसे स्वार्थ तथा व्यापारिक स्वार्थ के बीच बड़ा फर्क है। एक पोषक है, दूसरा विघातक; एक विकसित व्यक्ति का प्रदर्शन है, दूसरा अविकसित व्यक्ति का परिणाम; एक उत्कर्ष के मार्ग पर है, दूसरा पतन की ओर जाते मनुष्य का स्वभाव है।

— **गिजुभाई**

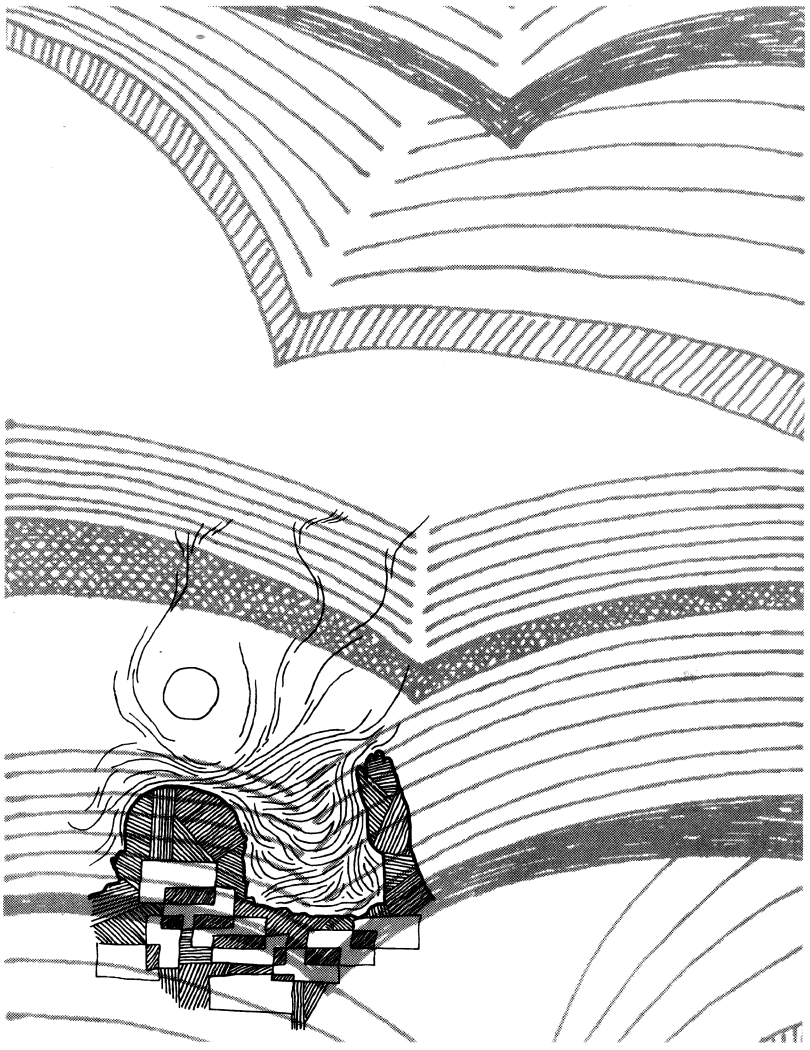

अनुभूति

श्रद्धा का वास्तविक अर्थ जिज्ञासा से जुड़ा हुआ है। जिज्ञासा करके ही हम उस शब्द के वास्तविक अर्थ को जान सकते हैं। गीता में कहा गया है—'जिसमें श्रद्धा है, वही ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। ज्ञान के समान इस संसार में दूसरा कुछ पवित्र नहीं है।' जिस प्रकार काल निरंतर प्रवहमान रहता है, उसी प्रकार शब्द के वास्तविक अर्थ भी निरंतर बदलते रहते हैं। यहां बदलने का अर्थ विकसित होना है। ज्ञान और श्रद्धा वास्तव में क्या हैं, यह समझना है। अगर हम जड़ होकर रह जाएं तो फिर हम सदा संशयग्रस्त रह कर अपने पैरों पर ही कुल्हाड़ी मारते हैं, क्योंकि संशय जिज्ञासा नहीं है। जिज्ञासा निरंतर जानने की चाह है और संशय हमें कहीं का नहीं छोड़ता—न इस लोक का, न उस लोक का। उससे कहीं सुख नहीं मिलता। गीता में ही कहा गया है—'हृदय में अज्ञान से उत्पन्न हुए संशय को आत्मज्ञान-रूपी तलवार से नष्ट करने के बाद ही वह योग समत्व धारण करने के वास्तविक अर्थ समझता है।'

—विष्णु प्रभाकर

जैन भारती के प्रमुख लेखक पद्मभूषण विष्णु प्रभाकर (11 अप्रैल '09) अब हमारे बीच नहीं रहे। उन्हें विनम्र प्रणाम

तुम्हारे आवेग, तुम्हारे विक्षेप और तुम्हारे संकल्प-विकल्प तुम्हें शक्तिहीन किए हुए हैं। तुम अपनी शक्ति के अजस्र-स्रोत को प्रवाहित करना चाहते हो तो आवेगों पर विजय प्राप्त करो। विक्षेपों को मिटाओ, संकल्प-विकल्पों पर शासन करो। तुम योगी बन कर ही ऐसा कर सकोगे। तुम निरे भोगी बनकर सेवक ही रहोगे, स्वामी नहीं बनोगे। सेवक को रोटी मिल सकती है, पर समाधान नहीं मिलता। योगी वह होता है, जिसके लिए समाधान पाना शेष नहीं रहता। समस्या तुम भी नहीं चाहते, समाधान ही चाहते हो। तुम्हारी दैहिक आवश्यकताओं का समाधान बाहर है, पर तुम्हारी आंतरिक समस्याओं का समाधान कहीं बाहर नहीं है। वह तुम्हारे भीतर ही है, तुम्हारे मन में है, तुम्हारी आत्मा में है। मन को जलाओ, उसके आलोक में अपने-आपको ढूंढ़ो। तुम स्वयं देख पाओगे कि तुम अनंत-शक्ति के स्रोत हो।

ढूंढ़ो : अपने को; अपने आलोक में

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ

तुम केवल देह ही नहीं हो, कुछ और भी हो। तुम्हारी इंद्रियां देह से आगे भी हैं। उनसे आगे मन है। उससे आगे है—आत्मा। तुम आत्मा को मानो या न मानो—यह तुम्हारी इच्छा है। क्योंकि आत्मा अरूपी है और तुम चंचल हो। तुम स्थिर बन कर कहो कि आत्मा नहीं है, तो शायद कह नहीं सकोगे।

क्या तुम जानते हो—तुम्हारे अंदर कितनी शक्ति है? नहीं जानते। यदि जानते तो तुम नहीं कहते कि आत्मा नहीं है। भले कहो—आत्मा नहीं है, इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं। पर, आत्मा नहीं है—इसे मान कर तुम्हीं अनंत आनंद से वंचित रहते हो।

प्रो. ल्योनिद वासिलियेव का कहना है कि मस्तिष्क शोध-संस्थान तथा दूसरे संस्थानों में किए गए परीक्षणों के आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि मानव-मस्तिष्क में शक्ति का अक्षय और अनंत स्रोत है। वह कोसों दूर बैठ कर दूसरों को सम्मोहित कर सकता है। मानव-मस्तिष्क की यह शक्ति चुंबकीय तरंगें नहीं हैं, उनसे भिन्न है। इसके बारे में अभी कोई पता नहीं चल सका है।

तुम चेतन-मन के चंगुल में फंसे हुए हो। इसीलिए तुम अपनी असीम क्षमताओं से अनजान हो। तुम अवचेतन-मन को अवसर दो, फिर देखो कि तुम्हारी क्षमताएं किस प्रकार प्रकट होती हैं और तुम कितने शक्तिशाली बनते हो। तुम एक मनोवैज्ञानिक से पूछो—चेतन-मन की उपेक्षा, अवचेतन-मन कितना शक्तिशाली है?

भारतीय धर्मविदों ने ध्यान को सर्वोपरि क्यों माना? इसीलिए कि चेतन-मन को एकाग्र किए बिना अवचेतन-मन क्रियाशील नहीं बनता। उसके क्रियाशील बने बिना शक्तियां प्रकट नहीं होतीं।

तुम प्रवृत्ति की रट लगाते-लगाते सत्य से बहुत दूर जा बैठे हो। प्रवृत्ति यानी चंचलता—यह तुम्हारे जीवन का नियम हो सकता है, पर सत्य तुम्हारे जीवन का नियम नहीं है। वह अस्तित्व का नियम है। उसे तुम निवृत्ति के द्वारा ही पा सकते हो। निवृत्ति यानी—स्थिरता। तुम स्थिर काच में ही अपना प्रतिबिंब देख सकते हो—चंचल में नहीं। तुम सत्य की शोध करना चाहते हो तो और कुछ मत करो। केवल ध्यान करो। चेतन-मन को एकाग्र करो। अवचेतन-मन को अपनी शक्ति के प्रदर्शन का अवसर दो।

ध्यान करो—यह बहुत सरल बात है। इसे समझने में कोई कठिनाई नहीं। पर, बहुधा ऐसा होता है कि शब्दों की सरलता में छिपी हुई भावों की गहराई को नापना सरल नहीं होता। ध्यान के लिए या चित्त की एकाग्रता के लिए बहुत खपना पड़ता है। और, इतना खपना पड़ता है कि शायद अन्य किसी कार्य के लिए उतना नहीं खपना पड़ता है। क्योंकि हमारे चारों ओर प्रवृत्ति का वातावरण है। हमारा शरीर चंचल है। हमारी इंद्रियां चंचल हैं। हमारा मन चंचल है। भूख लगती है, इंद्रियां चंचल हो जाती हैं। मन चंचल हो जाता है। देह प्रकंपित हो उठती है और प्रवृत्ति-प्रवृत्ति को जन्म देती है। भूख मिटाने के लिए रोटी की आवश्यकता होती है। उसके लिए पैसा आवश्यक होता है। उसके लिए व्यापार और व्यापार के लिए और बहुत-कुछ। इस प्रकार एक प्रवृत्ति के लिए हजार प्रवृत्तियां आवश्यक होती हैं, एक प्रवृत्ति में से हजार प्रवृत्तियां जन्म लेती हैं।

क्रोध आता है। इंद्रिय, मन और देह, सारे कांप उठते हैं। उनकी शांति के लिए तुम क्रोध के कारण का निवारण चाहते हो। इस शृंखला में भी तुम्हारी प्रवृत्तियों की कड़ी टूट नहीं पाती। तुम चाहते हो—वैर से वैर मिटे, हिंसा से हिंसा परास्त हो और शस्त्र से शस्त्र का नाश हो। पर, यह सब कब हुआ है? यदि होता तो प्रस्तर-युग ही रहता, अणु-अस्त्रों का युग कैसे आता?

तुम, सच मानो—आज निवृत्ति की बहुत बड़ी आवश्यकता है। इसे पलायनवाद कह कर उपेक्षित करते रहोगे तो एक दिन यह संसार मानसिक रोगियों का कारागृह बन जाएगा।

आज के यांत्रिक युग में मानव-मन पर जितना भावनात्मक दबाव पड़ रहा है, जितनी वैचारिक भ्रांति बढ़ रही है, नाड़ी संस्थान का जितना तनाव बढ़ रहा है—उतना पहले नहीं था। अधिकांश रोगों का कारण यह तनाव बन रहा है। क्या शिथिलीकरण से अधिक लाभप्रद इसकी और कोई चिकित्सा है? अनुभव कहता है—नहीं है। हठयोग में जो श्वासन, भगवान महावीर की भाषा में जो कायोत्सर्ग है और भगवान बुद्ध की भाषा में जो आनापानस्मृति है—वही इसकी सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा है।

यह शिथिलीकरण क्या है? शरीर-चेष्टा की निवृत्ति, भाषा की निवृत्ति और मन की निवृत्ति। जो मन को खाली करना नहीं चाहता, वह उसे कर नहीं सकता। तुम्हारी प्रवृत्ति इसलिए प्रबल नहीं बनती है कि तुम निवृत्ति को भुलाकर प्रवृत्ति करते हो।

काम के बाद आराम और आराम के बाद काम—जो करता है, वह उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक काम कर सकता है—जो निरंतर काम ही काम करता है, विश्राम नहीं करता—उसका औचित्य क्या है? जागरण के बाद नींद और नींद के बाद जागरण—यह क्या है? प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन। निवृत्ति की मेरी परिभाषा है—सबसे बड़ी प्रवृत्ति। निवृत्ति का अर्थ है—दूसरे की प्रवृत्ति में पहले की निवृत्ति। प्रवृत्ति सत् का लक्षण है। जिसका अस्तित्व है—उसमें प्रवृत्ति है, सक्रियता है। जिसमें प्रवृत्ति नहीं है—वह असत् है। तर्कशास्त्र की भाषा में कहा जाता है कि जो अर्थ क्रियाकारी है—वह सत् है। पूर्ण निवृत्ति कभी नहीं होती, किसी में भी नहीं होती। निवृत्ति का अर्थ ही है—प्रवृत्ति का रूपांतरण। एक वैज्ञानिक व्यापार से निवृत्त होता है और शोध-कार्य में प्रवृत्त। एक किसान शोध-कार्य से निवृत्त होता है और कृषि-कार्य में प्रवृत्त। एक भोगी आत्म-साधना से निवृत्त होता है और व्यापार में प्रवृत्त। एक योगी व्यवहार से निवृत्त होता है और आत्म-साधना में प्रवृत्त। सबमें अपने-अपने प्रकार की प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है। सब प्रकार की प्रवृत्तियां और सब प्रकार की निवृत्तियां—किसी एक में कभी नहीं होती।

तुम निवृत्ति के नाम से घबराओ मत। उसके निकट जाओ। उसकी आराधना करो। यह एक बहुत ही ऋजु मार्ग है। इसमें चलो। अनंत शक्ति का तुम्हारा स्रोत जो सिमटा हुआ है—प्रकाश में आ जाएगा।

तुम आत्मा हो। आत्मा में अनंत-शक्ति, अनंत-ज्ञान और अनंत-आनंद है। तुम जिन वस्तुओं को पाने के लिए भटक रहे हो—वे आत्मा में नहीं हैं। किंतु उसके पास वह वस्तु है—जिसे पाकर तुम उन्हें पाने के लिए नहीं भटकोगे. जो अपने-आप को नहीं पहचानता, वह बाहर का बहुत-

कुछ पाकर भी दरिद्र होता है और जो अपने-आप को पहचान लेता है—वह बाहर से अकिंचन होकर भी समृद्ध होता है। दरिद्र कोई है ही नहीं। पर, मनुष्य दरिद्र बनता है और इसलिए बनता है कि वह नहीं जानता कि मैं दरिद्र नहीं हूं। आंतरिक विश्वास प्रबल हो तो समृद्धि ही समृद्धि है। वह दुर्बल हो तो दरिद्रता ही दरिद्रता है। समृद्धि और दरिद्रता तुम्हारे अपने विश्वास की परिधि में ही है।

तुम्हारे ज्ञानचक्षु पर आवरण है, तुम्हारे मन में वासनाएं हैं, तुम्हारी इंद्रियां चंचल हैं—इसलिए तुम दरिद्र हो। तुम्हारा शक्ति-स्रोत सूखा हुआ है। आवरण को दूर कर वासनाओं से मुक्त बनो, इंद्रियों पर अपना नियंत्रण स्थापित करो—फिर देखो कि तुम कितने समृद्ध हो। तुमने मान लिया कि ऐसा करना योगी का काम है—हमारा नहीं। मुझे लगता है—तुमने जो माना है, वह सच नहीं है। सचाई यह है कि योगी बने बिना कोई शांति का जीवन जी नहीं सकता। तुम पूछोगे—फिर इस दुनिया का क्या होगा? कुछ भी नहीं, दुनिया चलती आई है और चलेगी। तुम योगी बन कर जीओगे तो तुम्हें शांति मिलेगी—अन्यथा तुम्हारा मन अशांत होगा, तुम जीते-जी मरते रहोगे। तुम्हारा स्नायु-संस्थान तुम्हें कुरेदता रहेगा और विचारों की शृंखला छिन्न-भिन्न हो जाएगी।

योगी का नाम सुन कर चौंको मत। मैं फिर कहता हूं कि हर व्यक्ति को योगी बनना चाहिए। इंद्रियों और मन को इतना समाधान अवश्य देना चाहिए, जितना कि मानसिक संतुलन के लिए आवश्यक हो।

तुम्हारे आवेग, तुम्हारे विक्षेप और तुम्हारे संकल्प-विकल्प तुम्हें शक्तिहीन किए हुए हैं। तुम अपनी शक्ति के अजस्र-स्रोत को प्रवाहित करना चाहते हो तो आवेगों पर विजय प्राप्त करो। विक्षेपों को मिटाओ, संकल्प-विकल्पों पर शासन करो। तुम योगी बन कर ही ऐसा कर सकोगे। तुम निरे भोगी बनकर सेवक ही रहोगे, स्वामी नहीं बनोगे। सेवक को रोटी मिल सकती है, पर समाधान नहीं मिलता। योगी वह होता है, जिसके लिए समाधान पाना शेष नहीं रहता। समस्या तुम भी नहीं चाहते, समाधान ही चाहते हो। तुम्हारी दैहिक आवश्यकताओं का समाधान बाहर है, पर तुम्हारी आंतरिक समस्याओं का समाधान कहीं बाहर नहीं है। वह तुम्हारे भीतर ही है, तुम्हारे मन में है, तुम्हारी आत्मा में है। मन को जलाओ, उसके आलोक में अपने-आपको ढूंढ़ो। तुम स्वयं देख पाओगे कि तुम अनंत-शक्ति के स्रोत हो।

❖

अध्यात्म जुड़ने-जोड़ने की अनवरत प्रक्रिया है और राजनीति की बुनियाद ही पृथकता के बोध पर खड़ी होती है। महात्मा गांधी या विनोबा जैसे लोग जब राजनीति के अध्यात्मीकरण की बात करते हैं तो उनका आशय राजनीति को पृथकता या भेद के बजाय अभेद की बुनियाद पर खड़ा करना होता है। ऐसा नहीं है कि समाज में भेद नहीं हैं। वे हैं, लेकिन राजनीति का प्रयोजन उन्हें बढ़ाना नहीं, बल्कि उन्हें कम करते हुए अभेद की ओर बढ़ना होता है। राजनीति के धर्म—वास्तविक धर्म—द्वारा निर्देशित होने का यही एकमात्र अर्थ हो सकता है। लेकिन, जब वह धर्म के नाम पर भेद को बढ़ाने लगती है तो वस्तुतः वह धर्मानुकूल होने के बजाय स्वयं धर्म को निर्देशित-नियंत्रित करने लगती है। धर्म के नाम पर किए जाने वाले विवाद वस्तुतः धर्मविरोधी राजनीति के द्वारा अपनी भेदमूलक प्रक्रिया को बढ़ाने के उपाय हैं, इसलिए वास्तव में वे धर्मविरोधी उपाय हैं, अधर्म हैं। कहा जा सकता है कि व्यवहार में पूर्ण अभेद संभव नहीं है और जब तक कुछ भेद है, तब तक कुछ-न-कुछ तनाव रहेगा ही। एक देह से दूसरी देह व्यवहार में अलग है, तो असमानता या पृथकता तो रहेगी ही। लेकिन, इस व्यावहारिक अलगाव को स्वीकार करते हुए भी जब मैं भावना के स्तर पर इसे दूर करने की कोशिश करता हूं—अन्य के साथ समानता या अहिंसा का व्यवहार करता हूं—तो दरअस्ल मैं अभेद की ओर, अध्यात्म की ओर बढ़ रहा होता हूं, किंतु जब मैं इस भेद को वास्तविक मान कर उसे बढ़ाता और अन्य को अपने अनुसार चलाने की कोशिश करता हूं तो वहां धर्मविरोधी राजनीति के जाल में फंस रहा होता हूं। धर्महीन राजनीति को महात्मा गांधी ने इसीलिए कलह बताया था।

— नन्दकिशोर आचार्य

हिंसा से नकारात्मक सोच का विकास होता है और उससे तनाव की स्थिति पैदा होने लगती है। उसका परिणाम है—बीमारियों की उपलब्धि और समय से पहले मृत्यु को आमंत्रण। हिंसा के कारण रोग-प्रतिरोधात्मक शक्ति कमजोर पड़ जाती है। फिर व्यक्ति 'वायरसों' से जल्दी प्रभावित होकर अपने आरोग्य को खोकर, रोग का शिकार हो जाता है। अत्यधिक भौतिक पदार्थों की आकांक्षा से संतुलन बिगड़ जाता है, भावात्मक रूप से अस्थिर हो जाता है और ग्रंथितंत्र बिगड़ जाता है। इसलिए मानव-मन में सम्यक् अहिंसा का बीजारोपण किया जाना चाहिए। उसे क्षुद्रता से ऊपर उठाया जाना चाहिए, ताकि जीवन स्वर्ग बन सके।

संयम : अहिंसा का सम्यक् स्वरूप

❑ साध्वी मयंकप्रभा

राजा शिकार करने जंगल में गया। शिकार किया, कुछ खरगोशों को पकड़ा, लेकिन स्वयं मार्ग से भटक गया। रास्ते में एक संन्यासी मिला। राजा ने पूछा—'राजमहल जाने का रास्ता कौनसा है?' संन्यासी पहुंचे हुए थे। उन्होंने कहा—'मैं दो ही रास्ते जानता हूं—एक नीचे का और दूसरा ऊपर का। जो प्रेम, सद्भावना, सहअस्तित्व, समन्वय और सौहार्दपूर्ण व्यवहार करता है—वह ऊपर जाता है। जो क्रूरता, आतंक, भ्रष्टाचार और अनैतिकता का व्यवहार करता है—वह नीचे जाता है।' हमारे भीतर भी दो ही रास्ते हैं—हिंसा और अहिंसा का। एक—आविष्ट और दूसरा—अनाविष्ट, प्रथम—तीव्र कषाय का, दूसरा—उपशांत का। इसका मूलस्रोत आत्मा की असत् और सत् प्रवृत्ति है।

हिंसा और अहिंसा जगत के बहुचर्चित शब्द हैं। इनकी व्याख्या भी विस्तृत रूप में की गई है। व्याख्या के साथ इनके कारणों की चर्चा भी हुई है कि हिंसा कौन करता है, क्यों करता है, कौन नहीं करता और हिंसा क्या है?

हिंसा कौन करता है

आगम शास्त्र के अनुसार—**इच्चव्यं गढिए लोए**—सुख-सुविधा में मूर्च्छित मनुष्य हिंसा करता है। लुब्ध व्यक्ति हिंसा करता है। प्रत्येक व्यक्ति सुख से जीना चाहता है। इसलिए मनुष्य की दौड़ निरंतर अर्थार्जन और अर्थसंग्रह की दिशा में रहती है। अनिवार्य या प्राथमिक जरूरतों की पूर्ति एवं सुख-सुविधापूर्वक जीवन-निर्वाह के लिए जितना अर्थ चाहिए, उतना अर्जन और संचय समाज द्वारा असम्मत भी नहीं है, लेकिन सुविधावाद के कारण जरूरतें अधिक बढ़ती जा रही हैं और यहीं से अधिक इच्छा, अधिक स्पर्धा, अधिक उत्पादन का सिलसिला भी शुरू हो जाता है। फिर हिंसा हावी हो जाती है। स्पर्धा और अधिक उत्पादन मानवीयता के विपरीत एवं अलगावित करने वाले कदम हैं। इसी के चलते आगे जाकर आदमी सिर्फ पैसे के लिए पैसा बटोरने लगता है। तब हृदय की कोमलता और संवेदनशीलता पर आवरण छा जाता है। इस प्रकार वह हिंसा के लिए प्रवृत्त हो जाता है।

आज हिंसा के उत्पाद बढ़ रहे हैं और अहिंसा को जड़ से खोद फेंकने की कोशिशें हो रही हैं। ऐसा लगता है मानव की मानवता स्वार्थवश जंगल की ओर चली गई है।

हिंसा क्यों

हिंसा में व्यक्ति प्रवृत्त क्यों होता है? इसका

विश्लेषण करते हुए हमारे आगम में कहते हैं—**अट्टे लोए परिजुण्णे, दुस्संबोहे अविजाणए।**

इस संसार में जो आर्त—अर्थात् विषय, कषाय आदि मानसिक दोषों से पीड़ित है, क्रोधादि की संज्ञा का स्तर बढ़ गया है, भीतर के कषाय उद्दीप्त हो चुके हैं, तो इस अवस्था में हिंसा की संभावना बढ़ जाती है। आवेश के असंतुलन से भी व्यक्ति हिंसा में प्रवृत्त हो जाता है। परिजीर्ण यानी अभावग्रस्त या पदार्थ को पाने की अभिलाषा रखते हुए, उससे वंचित रहने वाला व्यक्ति भी हिंसक हो जाता है। जो दुःसंबोध है, सैकड़ों प्रयत्न करने पर भी जो बोध प्राप्त करने में असमर्थ है, तत्त्व से अनभिज्ञ है—वह व्यक्ति भी हिंसा कर बैठता है। जबकि हिंसा का प्रत्याख्यान किए बिना कोई भी व्यक्ति दुख को नष्ट करने में समर्थ नहीं होता। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी बताते हैं—हिंसा से बचने के लिए आवश्यक है—अहिंसा की चेतना या संवेदनशीलता। दूसरों को कष्ट देते समय यह अनुभूति हो कि यह कष्ट मैं दूसरों को नहीं, स्वयं को दे रहा हूं। जिस समाज में संवेदनशीलता नहीं होती वह समाज अपराधियों, हत्यारों या क्रूरता के खेल-खेलने वालों का समाज बन जाता है।

आज की हिंसा तो हमारे प्राकृतिक ऊर्जा स्रोतों का अतिरिक्त दोहन कर परिवेशिकी-पर्यावरणीय-चक्र को भी तोड़ रही है। बार-बार भूकंप, ओजोन की छतरी में छेद—ये सब प्रकृति के अतिरिक्त दोहन के ही परिणाम हैं। अतिरिक्त इच्छा, हिंसा, आतंक और घृणा के विषफलों ने मानवता की कमनीय काया को विद्रूप बनाया है, निष्प्राण किया है। मनुष्यता को इस महाविनाश से उबारने के लिए जरूरी है अहिंसा, प्रेम व सहअस्तित्व का प्रशिक्षण। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—बढ़ती हुई क्रूरता, हिंसा और अपराधों का कारण है—अहिंसा, मैत्री, करुणा, सद्भावना और जीवनमूल्यों के प्रशिक्षण का अभाव।

कहा भी है—

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत् सन्निधौ वैरत्यागः।

जिस व्यक्ति के अंतःकरण में अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है, उसकी सन्निधि में शत्रु भी शत्रुता त्याग देता है और वह परममित्र बन जाता है।

अहिंसा की शक्तिशाली तरंगें हिंसक, अपराधी और आतंकवादी लोगों की दुर्भावनाओं को भी प्रक्षालित कर सकती हैं। इसलिए हमारी कल्पना सृजनात्मक हो, न कि ध्वंसात्मक।

हिंसा कौन नहीं करता

हमारे आगमों में इसके कुछ बिंदु निर्दिष्ट किए गए हैं—1. **आयंकदंसी ण करेंति पावं**—हिंसा में आतंक देखने वाला हिंसा (पाप) नहीं करता। 2. **समत्तदंसी ण करेंति पावं**—सम्यक्त्वदर्शी हिंसा (पाप) नहीं करता। 3. **अणोमदंसी ण करेंति पावं**—आत्मा को देखने वाला हिंसा (पाप) नहीं करता। 4. **ण लिप्पई छणपएण वीरे**—वीर पुरुष हिंसा कर्म में लिप्त नहीं होता।

अहिंसा की पृष्ठभूमि में दया, करुणा, मैत्री तथा समत्व की अनुभूति है। जो आत्मिक धरातल पर जीता है, आत्मा की अनुभूति करता है—वही व्यक्ति हिंसा से दूर रहता है। सोमप्रभ आचार्य ने भी कहा है कि—जिस व्यक्ति का चित्त करुणा से भीगा हुआ होता है, उस व्यक्ति के जीवन में निम्नोक्त बातों का विकास होता है—

आयुर्दीर्घतरं वपुर्वरतरं गोत्रं गरीयस्तरं,
वित्त भूस्तिरं बल बहुतरं स्वामित्वमुच्चैस्तरं,
आरोग्यं विगतान्तरं त्रिजगतिश्लाघ्यत्वमल्पेतरं
संसाराम्बुनिधिं करोति सुतरं चेतः कृपार्द्रान्तरम्।।

अहिंसा से ओतः-प्रोत चित्त मनुष्य की आयु को प्रलंब, शरीर को अतिसुंदर, गोत्र को गुरुतर, धन को अतिप्रचुर, बल को वृद्धिंगत, स्वामित्व को उत्कृष्ट, आरोग्य को अविच्छिन्न और संसाररूपी समुद्र को सुखपूर्वक तैरने योग्य करता है।

हिंसा से नकारात्मक सोच का विकास होता है और उससे तनाव की स्थिति पैदा होने लगती है। उसका परिणाम है—बीमारियों की उपलब्धि और समय से पहले मृत्यु को आमंत्रण। हिंसा के कारण रोग-प्रतिरोधात्मक शक्ति कमजोर पड़ जाती है। फिर व्यक्ति 'वायरसों' से जल्दी प्रभावित होकर अपने आरोग्य को खोकर, रोग का शिकार हो जाता है। अत्यधिक भौतिक पदार्थों की आकांक्षा से संतुलन बिगड़ जाता है, भावात्मक रूप से अस्थिर हो जाता है और ग्रंथितंत्र बिगड़ जाता है। इसलिए मानव-मन में सम्यक् अहिंसा का बीजारोपण किया जाना चाहिए। उसे क्षुद्रता से ऊपर उठाया जाना चाहिए, ताकि जीवन स्वर्ग बन सके।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की भाषा में अहिंसक वह होता है—(1) जो सदा प्रसन्न रहता है। (2) जो संवेदनशील और करुणाशील है। (3) जो सकारात्मक सोच रखता है।

हिंसा क्या है

हिंसा में प्रवृत्त व्यक्ति चिरकाल तक बोधि (ज्ञान, दर्शन, चारित्रात्मक रत्नत्रयी) को प्राप्त नहीं होता। यह महान अहित है। हिंसा के परिणामों को नहीं जानने वाला व्यक्ति अहिंसा में प्रवृत्त नहीं होता, इसलिए ग्रंथकार ने 'हिंसा क्या है'—बतलाते हुए कहा है—**एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए।**

हिंसा प्राणी के चित्त को ग्रथित करती है—इसलिए ग्रंथी है; यह मूढ़ता को प्राप्त कराती है—इसलिए मोह हैं, मृत्यु की ओर ले जाती है—इसलिए भार है तथा यह विपुल वेदना को उपलब्ध कराती है—इसलिए नरक है।

जो हिंसा को छोड़ने वाले होते हैं, वे ही कर्म को क्षीण करते हैं। हिंसा आज की ज्वलंत समस्या है। दिन-दहाड़े मारना, लूटना, आक्षेप करना—यह व्यक्ति का जैसे व्यवसाय बन गया है। भ्रूणहत्या आज की फैशन बन गई है। मनुष्य में प्रकृति से ही कषायजनित मनस्ताप होता है। वह कषायों से उद्दीप्त रहते हुए भीतर ही भीतर निकाचित जैसे गाढ़ कर्मों का बंधन कर नारकी को भी प्राप्त हो जाता है, जैसे सोमिल ब्राह्मण और कालसौकरिक आदि हुए।

अहिंसा धर्म की सापेक्ष कसौटी है। भगवान महावीर की अहिंसा का प्राणतत्त्व है—संयम। उन्होंने अहिंसा को परिभाषित करते हुए कहा—**अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो**—संपूर्ण अस्तित्व के प्रति, समस्त जीव-जगत के प्रति अपना संयम ही अहिंसा का सम्यक् स्वरूप है।

प्रभु यीशु ने भी कहा—यदि तुम मंदिर में जाओ, वहां कहीं बीच में ही तुम्हें याद आ जाए कि मेरा अमुक व्यक्ति के प्रति बुरा व्यवहार है, तो पूजा अधूरी छोड़ कर पहले उस व्यक्ति के पास क्षमा के लिए चले जाओ—यह अहिंसा की सबसे बड़ी पूजा है। श्रीमद् राजचंद्र ने कहा—मैं दूध पीए बिना रह सकता हूं, पर किसी का खून नहीं पी सकता। अहिंसक मनुष्य जीवों की हिंसा न करता है, न कराता है, न हिंसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

संक्षिप्त में कहें तो संयम से बचना—हिंसा है और असंयम से बचना—अहिंसा है। जरूरत है हिंसा की दासता से बाहर आएं और अहिंसा के स्वच्छ, स्वस्थ विकासोन्मुख मानवीय जगत में पांव रखें। ❖

तपोवन का मार्ग पक्के बांधे हुए रास्ते के बाद शुरू होता है और वहां कोई पथ-दीपक नहीं होता। एक सांध्य प्रदेश में से होकर गुजरना होता है। अपना दीपक स्वयं को ही प्रज्वलित करना पड़ता है। कुछ शब्द दियासलाई का काम कर देते हैं, बस इतना ही। एक चमक, एक कौंध में वे चित्त को एक भिन्न भूमिका पर ले जाते हैं। बाद में जब चित्त सामान्य सतह पर आता है, तब फिर से कोई शब्द झटका मारते हुए उसे ऊपर उठा लेते हैं। इस तरह सतहें बदलती रहती हैं। एक सीमा के बाद तर्क की सुसंबद्धता या अभिव्यक्ति की तथाकथित पारदर्शिता ज्यादा काम नहीं आती। जिस तरह मेढक चारों पैर इकट्ठे करके उछलता चलता है, या पानी में मछली गहरे जाती है और वापस ऊपर आती है, और इस तरह कई-कई स्तर बदलती हुई तैरती है, ऐसी सूरत बिचारी वाणी की होती है। इसीलिए मर्मी लोग मिथकों, दृष्टांतों, रूपकों, प्रतीकों या सांध्य भाषा में बात करते हैं। कबीर कहते हैं कि 'नाव में नदिया डूबी जाय' तब इसका क्या अर्थ होता है? और इस पंक्ति पर भाष्यों के पन्ने-दर-पन्ने भर देने के बाद भी हाथ में क्या आता है? ज्ञानेश्वर कहते हैं कि 'कांटे की नोक पर बसे तीन गांव, दो उजाड़ और एक बसा ही नहीं।' इस पहेली का अर्थ खोलने के लिए भाषा और अर्थ के कपड़े उतार कर मात्र ध्वनि और ध्वनि में निहित ज्योति के प्रदेश में पहुंचना पड़ता है। तपोवन शब्द में ही 'तप' का स्वीकार है। तप के द्वारा जब चित्त की धातु बदलती है, तब देवदृष्टि आती है। 'तपसा देवत्वम्'। और देवदृष्टि जब अंत में ज्ञानदृष्टि में विराम लेती है तब ब्रह्म का अनुभव होता है। 'तपसा चीयते ब्रह्म।' तप के ये तीन डग भरे बिना जीवन में तेज नहीं आता।

—मकरंद दवे

श्रम की मूल्यवत्ता पर एक चिंतन
1 मई
अंतरराष्ट्रीय श्रम दिवस

कृतिहीन वाचालता से प्रज्ञावाद और शब्दाडंबर ही फैलता है। केवल शब्दच्छल करते रहना सबसे बड़ा बौद्धिक दुर्गुण है। वाणी विलास, वाक्पटुता करने वाली बुद्धि में कर्म-प्रवण होने की ध्रुव-संभावना हो सकती है, किंतु कर्म द्वारा वह अभिव्यक्त नहीं होती। यदि यह स्वभाव बना रहा, क्रिया बिना वाचालता, कृति शून्य बकवास चलती रही—तो यह बौद्धिक एवं नैतिक विघटन (Disintegration) का श्रीगणेश होगा—*'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'*, *'तत्त्वमसि'*, *'अहं ब्रह्मास्मि'*—आदि वचन यदि केवल विद्वत्-चर्चा के लिए ही प्रयोज्य हों, तो मानसिक अधःपात अनिवार्य होगा। इसलिए इस वाचिवीरता को, शब्द पांडित्य को, शब्दच्छल को क्रमशः नियंत्रित एवं परिष्कृत करना होगा; विचार और आदर्शों को शनैः-शनैः किंतु निश्चयपूर्वक व्यवहार में कार्यान्वित करने का विवेकपूर्ण प्रयास करना होगा।

श्रम : आत्मोन्नति की साधना

❑ भगिनी निवेदिता

कर्म करने का आग्रह सभी ने किया है। सभी महापुरुष एक ही बात कहते हैं कि कर्म करो, श्रम करो। महापुरुष—जो इस धरती पर अवतरित होते हैं—वे कर्म का, श्रम का उद्देश्य लेकर आते हैं। परमानंद में निमग्न रहना उनके लिए सहज संभव है। उनकी दृष्टि में सर्वत्र एक परब्रह्म ही है, उस परब्रह्म के साथ वे एकरूप हैं। ऐसा होते हुए भी उस एकरूपता को छोड़ कर, इस मृत्यु लोक की विविधता में वे क्यों कूद पड़े? जन्म-मृत्यु के चक्कर में क्यों फंस गए? स्वर्ग, मोक्ष क्यों छोड़ा? केवल मानव-कल्याण के लिए। कर्म की दिव्यता, श्रम की महिमा मानव-मानव को समझाने के लिए। हमारे दुखों से द्रवित होकर वे करुणाघन हमारे मध्य अवतरित हुए कि मानव श्रम के परम सुख को प्राप्त करें। भगवान बुद्ध ने कहा—'जब तक एक भी मानव दुखी है, मैं मोक्ष नहीं ले सकता; मैं पुनः-पुनः जन्म लूंगा।'—इन महापुरुषों, संतों, अवतारों और पैगंबरों के जीवन कितने सुंदर, कितने उदार, कितने धन्य! कितनी आश्चर्यजनक उनकी करुणा! उनसे एकरूप होने, उनके जैसे बनने की पात्रता हमें कैसे प्राप्त हो?

कैसे? इसका एकमात्र उत्तर है—कर्म से, श्रम से। सुख-सुविधा का त्याग करें, विशेषाधिकार की भावना छोड़ें, आलस्य से मुक्त हों और अपने अंतःकरण को अहंकार से, स्वार्थ से रिक्त करें। 'मैं नहीं, तू ही'—इस विचार से दूसरों के लिए श्रम करें, ध्येय के लिए कष्ट सहें। गीता कहती है—**सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत। कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।।** —'अज्ञानी लोग फल की इच्छा से काम करते हैं, किंतु ज्ञानीजन अनासक्त भाव से लोकसंग्रह के हेतु ही वे सब कर्म करते हैं'—(गीता 3,25)—जिस प्रकार कृपण कण-कण से धन-संचय के लिए संघर्ष करता है, हम भी ध्येयप्राप्ति के लिए परिश्रम करें। डूबने वाला जिस प्रकार

तिनका पकड़ने के लिए प्रयास करता है, हम उसी प्रकार जन-कल्याण और समाजसेवा के लिए दौड़-धूप करें। कोई भी सेवा, कर्म छोटा नहीं है। तिनका भी डूबने वाले को बचाता है।—**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्**—धर्म का किंचित् भी पालन महान भय से रक्षा करता है—(गीता 2,40)। —प्रपंच में आसक्त लोग जितनी दौड़-धूप करते हैं, विषयासक्त जितने विषय प्राप्ति के लिए लालायित रहते हैं—हम भी सेवा, त्याग और परिश्रम में उतने ही उत्साह से जुट जाएं।

तपस्वी अपने व्रत के प्रति कितना प्रामाणिक, कितना चिंतित रहता है! व्रत भंग या पतन की संभावना से वह अत्यंत भयभीत रहता है। किसी भी प्रकार का असीम त्याग करने को वह सर्वथा सिद्ध रहता है, जिससे अंत तक अपने व्रत के प्रति वह निष्ठावान रह सके। इसी प्रकार हमें भी कभी कापुरुषता की भाषा नहीं बोलनी चाहिए, समझौतावादी वृत्ति नहीं रखनी चाहिए और जो कार्य हमें सौंपा गया है—उसमें कभी असफलता की स्थिति नहीं आने देनी चाहिए। इन अवस्थाओं से हमें बचे रहना चाहिए। जीवन का अभिप्राय जिन्होंने समझ लिया है, ऐसे महापुरुष हमें बताते हैं कि हम पर किए गए विश्वास का घात करना मानो अवनितल की महानतम दुर्गति है।

क्या हम अपने ध्येय के प्रति एकनिष्ठ रहना चाहते हैं, अपनी सत्य-संधता को सर्वोपरि मानते हैं? फिर समझौते के लिए अवकाश कहां? समझौता मानी—'क्या'? दो परस्पर विरोधी इच्छाओं में से मध्य-मार्ग निकालना, कुछ लेना, कुछ देना—यही तो समझौते का अभिप्राय है। जब हमारी एक ही इच्छा, एक ही वांच्छा, एक ही आकांक्षा, एक ही धुन है—तब समझौता कैसे हो, मध्य मार्ग की प्रेरणा के लिए अवकाश ही कहां है! हम सब इस प्रकार प्रतिज्ञा करें, शपथ लें कि कोई काम अधूरा नहीं करेंगे—**त्वया अर्धं मया अर्धम्**—ऐसा व्यवहार नहीं करेंगे। मुंह देखी बात, मुख-तोष (Lip-Servic) नहीं करेंगे। दुर्बलता से—**रामाय स्वस्ति, रावणाय स्वस्ति**—कहते हुए दोनों डगरियों पर हाथ रख कर नहीं चलेंगे। हम अपने जीवन को क्षुद्र वस्तु मान कर हंसते-हंसते श्रेष्ठ ध्येय के हेतु समर्पण कर देंगे। एक ही जन्म की क्या कहें, ऐसे सैकड़ों जन्म भी हम लेंगे और ध्येय साधना के लिए लीलया, प्रसन्नतापूर्वक दे देंगे।

हम अपने कार्य, अपने कर्म के प्रति प्रामाणिक हों। हमारा ध्येय, हमारा कर्तव्य ही हमारा स्वधर्म है। **श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्**—अच्छी प्रकार से आचरित परधर्म की अपेक्षा दिखने में गुण रहित स्वधर्म अधिक श्रेयस्कर है।—(गीता 18,47)—हम और हमारा कर्तव्य, हमारा स्वधर्म—यही लगन लगी रहे। अपने इस स्वधर्म, प्राप्त कर्म को करने में हमें किसका भय लगता है? मृत्यु का? मृत्यु हमारे सामने खड़ी है और डरा रही है। उस मृत्यु के पार क्या है, उसे देखने का साहस नहीं होता? चलें, हम उस मृत्यु का आलिंगन करें।

अमरीकी कवि रसेल लॉवेल पूछता है—'क्या सत्य सदा ही सूली पर चढ़ता रहेगा और असत्य ही सदा सिंहासन पर अधिष्ठित होगा?'—और आगे कवि स्वयं अपने ही प्रश्न का उत्तर देते हुए फूट पड़ता है—'वह सूली ही भविष्यकाल की स्वामिनी है; वह भविष्य को बनाएगी, बदलेगी—अपनी इच्छानुसार भविष्य को आकार देगी। उस धुंधले अज्ञात के उस पार, उस छाया में परमात्मा खड़ा है। वह वहां से अपने भक्तों पर दृष्टि गड़ाए हुए है, उसका अपने भक्तों पर पूर्ण ध्यान है।'—निर्भयता का तत्त्वज्ञान, धैर्य का दर्शन, आत्म-विजय का सिद्धांत यही है। यह कर्मयोग की श्रुति है, त्याग का उपनिषद् है। हमारे अंतर में छिपे हुए दिव्य-तत्त्व हैं। हम उठें, जाग्रत हों! हमारे जाग्रत होने पर ही हमारे लिए सब-कुछ करना संभव होगा।—**सुख दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।**।—(गीता 2,38)—इस वचन के अनुसार अथवा—**हानि लाभ जीवन मरण यश अपयश विधि हाथ**—इस कथन के अनुसार विजय-पराजय की चिंता न करते हुए हम संघर्ष-समरांगण में कूद पड़ें।

परंतु, हम किस प्रकार संघर्ष करेंगे? हममें से अधिकांश के लिए कर्म-परिश्रम ही हमारा साधन है, यही हमारा शस्त्र है। मानव जाति की, स्व-राष्ट्र की सेवा—यह महती साधना है। इस साधना से हम शीलवान होंगे, चरित्र संपन्न होंगे। सेवा लोक कल्याण का साधन है और है— आत्मोन्नति की साधना! इस साधना से अहंकार दूर होकर जीवन निर्मल होगा, चित्त शुद्ध होगा और यथा समय हम निर्विकल्प समाधि की अवस्था तक पहुंच जाएंगे। शील, चरित्र माने—आत्म-संयम! आत्म-संयम, अर्थात् आत्म-निर्देश, स्वयं को एक विशिष्ट दिशा में ले जाना, एक ही नियत दिशा में निरंतर चलना, एक ही कार्य, एक ही कर्म, एक ही प्रयत्न लगातार करते रहना। इसी आत्म-निर्देश को एकाग्रता कहते हैं। जब

यह एकाग्रता परिपूर्णता पर पहुंचती है तो समाधि अवस्था प्राप्त होती है। निर्दोष-कर्म करते चलें, तो समाधि तक पहुंचेंगे। निर्दोष कर्म से निर्दोष मुक्ति की ओर, निजधाम की ओर! ऐसा यह कर्मयोग का दिव्य पंथ है, आत्मा का आयाम (Amplitude) है। उसका अवलंबन कर अनासक्त कर्म के मार्ग में हम मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। अतः चलें, अपने कर्म में परिणत अवस्था प्राप्त करें।

विचार के साथ आचार न हो, विचार केवल शब्द में रहें, कृति में न उतरें—तो उसके बड़े घातक परिणाम होते हैं। समाज पर इसका बहुत अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ता। यह इतिहास के अनेक उदाहरणों से स्पष्ट है। आत्मा की उन्नति के लिए भौतिक परिस्थितियों से संघर्ष सदा आवश्यक है। जब मोक्ष-समय निकट आता है और कर्म निःशेषित हो जाता है—तब भौतिक परिस्थिति भी सर्वोपरि अवस्था में होगी। परंतु, यह अवस्था अपवाद स्वरूप व्यक्तियों के विषय में सत्य होगी। साधारणतया धरती पर किसी भी समय मानव जाति में प्रायः बहुत बिरले ऐसे लोग होंगे, जिनके लिए आस-पास के मर्यादित परिवेश में अपनी संपूर्ण शक्ति से ठोस प्रयास और संकेद्रित संघर्ष करना आवश्यक न हो। इसलिए हम सामान्यजन ध्येयार्थ अपना तन, मन, धन समर्पित करें, महान विचारों और तत्त्वों को जीवन में प्रकट करें। आचार में आने से ही विचार का प्रचार होता है, विकास होता है। इसी से हमारी दृष्टि उत्तरोत्तर विशाल होगी और सत्य का बोध वृद्धिंगत होगा।

अतः आत्मा के विकास के लिए कर्म उतना ही आवश्यक है, जितनी अन्य पद्धतियां। और, कर्म करते रहना हम सबको सदा ही संभव है, अपनी शक्ति के अधीन है। सृष्टि के रूप में प्रकट हुए सर्वशक्तिमान की पूजा मनुष्य कर्म के माध्यम से ही करता है। कर्म ही यज्ञ है, कर्म ही पूजा है।

कृतिहीन वाचालता से प्रज्ञावाद और शब्दाडंबर ही फैलता है। केवल शब्दच्छल करते रहना सबसे बड़ा बौद्धिक दुर्गुण है। वाणी विलास, वाक्पटुता करने वाली बुद्धि में कर्म-प्रवण होने की ध्रुव-संभावना हो सकती है, किंतु कर्म द्वारा वह अभिव्यक्त नहीं होती। यदि यह स्वभाव बना रहा, क्रिया बिना वाचालता, कृति शून्य बकवास चलती रही—तो यह बौद्धिक एवं नैतिक विघटन (Disintegration) का श्रीगणेश होगा—**'सर्व खल्विदं ब्रह्म'**, **'तत्त्वमसि'**, **'अहं ब्रह्मास्मि'**—आदि वचन यदि केवल विद्वत्-चर्चा के लिए ही प्रयोज्य हों, तो मानसिक अधःपात अनिवार्य होगा। इसलिए इस वाचिवीरता को, शब्द पांडित्य को, शब्दच्छल को क्रमशः नियंत्रित एवं परिष्कृत करना होगा; विचार और आदर्शों को शनैः-शनैः, किंतु निश्चयपूर्वक व्यवहार में कार्यान्वित करने का विवेकपूर्ण प्रयास करना होगा।

भारतीय चिंतन-प्रवाह आधुनिक चेतना में प्रवेश करेगा—यह उम्मीद है और अर्वाचीन काल की महान और दूर-परिणामी घटना के रूप में भावी इतिहासकार और समालोचक उसे प्रस्थापित करेंगे। अतः हम कैसे बचें और हम कौन-सा मार्ग अपनाएं—यह विचारणीय है। आध्यात्मिक क्षेत्र में हमारे धर्म-शास्त्रों ने अजेय पद प्राप्त किया, उसका अब विज्ञान के क्षेत्र में आवाहन किया गया है। विज्ञान के इस धावन-पथ पर भी हम उतरें और विज्ञान की घुड़दौड़ में भी प्रथम पारितोषिक अर्जित करें। संसार में हमारा यही दायित्व है कि हम प्राचीन भारतीय-प्रज्ञा की महिमा और अधिकार प्रस्थापित करें। हमें एक श्रम-साध्य कर्तव्य करना है कि हम जो-जो ज्ञान प्राप्त करें—उसे आत्मसात करें और अपने बंधुओं तक उसे पहुंचाएं। जो-जो हमने प्राप्त किया—वह सबका है, सबके लिए है। जितना ज्ञान हमने प्राप्त किया, दूसरों को दें। यही वह साधना है—जिससे हमारा अध्ययन, हमारा कर्म यथार्थ होगा। यही वह अनुष्ठान है—जिसके कारण हमारा ज्ञान निरी वाचालता, शब्दजाल न रह कर यथार्थ ज्ञान होगा। यह संघर्ष है, यह वह कर्म है—जो एकाग्र होकर किया जाएगा। हम इसमें तल्लीन हो जाएंगे और इसी के परिणामस्वरूप हमें नूतन आध्यात्मिक स्नायु प्राप्त होंगे। ❖

पाप और कुछ नहीं है, जिन्हें हम छिपा कर किया चाहते हैं—उन्हीं कर्मों को पाप कह सकते हैं, परंतु समाज का एक बड़ा भाग उसे यदि व्यवहार्य बना दे, तो वही कर्म हो जाता है, धर्म हो जाता है। इतने विरुद्ध मत रखने वाले संसार के मनुष्य अपने-अपने विचारों में धार्मिक बने हैं। जो एक के यहां पाप है, वही तो दूसरे के लिए पुण्य है।

—जयशंकर प्रसाद

संगीत सम्राट तानसेन
का पुण्य स्मरण करते हुए
महाप्रयाण : 6 'मई' 1589

संगीत : मन के पार आत्मा तक पहुंचने का मार्ग

❑ मुनि राजकुमार

ध्वनि की भावपूर्ण अभिव्यक्ति को ही संगीत कहा है। इसमें भगवान शंकर को 'नाद का स्वामी' या 'लय-अधिष्ठाता' कहते हैं। 'शिव' की शक्ति ध्वनि या शब्द बनती है। तंत्र-शास्त्र के अनुसार दोनों के योग से जो प्रथम सृष्टि हुई वही 'गणेश' है, वही संगीत है। संगीत चेतना को जाग्रत करता है, प्रकाशित करता है। ध्वनि भी ऊर्जा ही है। इसमें उष्मा भी है और प्रकाश भी। ऊर्जा को 'मैटर' में भी बदला जा सकता है। 'मंत्र' भी संगीत का कार्य करते हैं। इनमें भी लयबद्धता होती है। 'मंत्र' भी अर्थ-प्रयोजन सिद्ध करने में काम आते हैं।

अनेक कलाओं में से एक कला है—संगीत और कला जगत में संगीत कला का अपना विशिष्ट महत्त्व रहा है। संगीत की परिभाषा करते हुए किसी विद्वान ने ठीक ही लिखा है—गीत शब्द के आगे 'सम्' उपसर्ग लग जाने से 'संगीत' शब्द बन जाता है, जिसका अर्थ है—वर्ण, स्वर, लय और ताल युक्त गाई जाने वाली 'ध्वनि'। लयबद्ध गाया जाने वाला स्वर (गीत) सुनने वाले और सुनाने वाले—दोनों को तन्मय बना देता है। संगीत में ही यह क्षमता है कि वह व्यक्ति को कुछ देर के लिए आत्मा से जोड़ देता है और अन्य सभी संबंध विस्मृत हो जाते हैं। अच्छा संगीत आत्मा को तरंगित कर देता है। संगीत का माधुर्य सहस्रों हृदयों को अनायास ही खींच लेता है। संगीत भावाभिव्यक्ति का प्रभावी और अच्छा माध्यम है। मनुष्य की तो बात ही क्या; पशु-पक्षी, पेड़-पौधों पर भी संगीत का अचूक प्रभाव देखा गया है। सांप जैसे विषैले जानवर संगीत के माध्यम से नियंत्रित किए जाते हैं। संगीत में वह प्राणवान चेतना-शक्ति है कि जिससे मनुष्य की बिखरी हुई धारा सहज ही केंद्रित हो सकती है।—**नास्ति नादसमोरस**—संगीत के बराबर कोई रस नहीं है। जिसका जीवन संगीतमय है, वह कभी असहाय व अकेलेपन का अनुभव नहीं कर सकता। भर्तृहरि ने कहा है—**साहित्य संगीतकला विहीनः साक्षात् पशुः पुच्छ विषाणहीनः**—संगीत-कला से अनभिज्ञ व्यक्ति पशु के समान है। महात्मा गांधी ने एक जगह कहा है कि संगीत के अभाव में सारी शिक्षा ही अधूरी लगती है। चौदह विद्याओं में संगीत को प्रमुख विद्या माना गया है।

ध्वनि की भावपूर्ण अभिव्यक्ति को ही संगीत कहा है। इसमें भगवान शंकर को 'नाद का स्वामी' या 'लय-अधिष्ठाता' कहते हैं। 'शिव' की शक्ति ध्वनि या शब्द बनती है। तंत्र-शास्त्र के अनुसार दोनों के योग से जो प्रथम सृष्टि हुई वही 'गणेश' है, वही संगीत है। संगीत चेतना को जाग्रत करता है, प्रकाशित करता है। ध्वनि भी ऊर्जा ही है। इसमें उष्मा भी है और प्रकाश भी। ऊर्जा को 'मैटर' में भी बदला जा सकता है। 'मंत्र' भी संगीत का कार्य करते हैं। इनमें भी लयबद्धता होती है। 'मंत्र' भी अर्थ-प्रयोजन सिद्ध करने में काम आते हैं।

भारतीय संगीत बहुत गहरा है। शास्त्रीय संगीत शरीर, बुद्धि और मन को पार करके आत्मा तक पहुंच जाता है। आत्मा के संस्कारों के अनुरूप वह अपने इष्टदेव के साथ कोई भी संबंध स्थापित कर सकता है, एकाकार हो सकता है। हमारे यहां संगीत का उपयोग केवल साधना के लिए किया जाता रहा है। इसीलिए हमारे यहां 'एकल-गायन' की परंपरा रही है।

यहां राग भी साधना है और प्रभाव प्रकट करने का अभ्यास है। हमारा संगीत ऊर्जा को 'मैटर' में बदलने की 'प्रयोगशाला' है। यह सतोगुण प्रधान है। शरीर की चक्र-व्यवस्था को ध्यान में रख कर उसको जाग्रत करने की दृष्टि से तैयार किया जाता है। माना गया है कि संगीत में गायक के साथ इष्टदेव की छवि विद्यमान रहती है। उन्हें प्रसन्न करने के लिए भक्तिभाव के साथ, तन्मय होकर गायन किया जाता है। इसीलिए इसका अभ्यास भी 'ब्रह्म-मुहूर्त' में ही किया जाता है।

शब्द 'वाक्' है और संगीत में 'तरंगें' हैं। संगीत के रूप में शब्द हमारे शरीर को तरंगित करते हैं। बिना शब्दों के श्रोता के मन तक अपनी अभिव्यक्ति पहुंचा देना ही संगीत की पराकाष्ठा है। इसीलिए संगीत कला है, भावनाओं की अभिव्यक्ति है। संगीत ऐसी कला हैं जिसमें शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा—सभी कुछ अध्यात्ममय हो जाता है। अतः संगीत में जीवन को बदल डालने की भी क्षमता है।

भक्ति का अर्थ है—एकाकार हो जाना, स्वयं को भूल जाना, समर्पित हो जाना। संगीत इसका श्रेष्ठ माध्यम है। भारतीय संगीत में निरंतरता है। इसका क्रम टूटता नहीं है। वह शरीर और बुद्धि को प्रभावित करता है। भारतीय संगीत मन और आत्मा को छूने वाला एक सबल माध्यम है। हमारे सारे असाध्य रोग हमारे भीतर की भावनाओं के कारण शरीर में प्रकट होते हैं। भावनाओं की तरंगें ही रोग पैदा करती हैं, स्थूल शरीर का निर्माण करती हैं। संगीत इन भावनाओं को निर्मल करता है। इसीलिए रोग निवारण में संगीत की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

जैन शास्त्रों में संगीत

जैन आगमों में अनेक जगहों पर विविध दृष्टियों से गीतों का वर्णन मिलता है। सुना जाता है कि तीर्थंकरों के प्रवचन माला 'सरल राग' में होते थे। पुरुष की कलाओं में संगीत पंचम कला है और स्त्री की चौसठ कलाओं में संगीत ग्यारहवीं कला बताई गई है। समवायांग में संगीत कला का उल्लेख करते हुए टीकाकार ने तीन भेद दिए हैं। गीत प्रारंभ में 'मृदु-कोमल' होता है, मध्य में 'तेज' होता है, और अंत में 'मंद-धीमा' हो जाता है। गायककारों के स्वर एक समान नहीं होते हैं, यह तो प्रकृति के आधार पर निर्धारित है। ठाणांग में सात स्वरों का वर्णन मिलता है—षडज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, छैवत, विषाद। काली स्त्री रूखा गाती है और श्यामवर्ण वाली स्त्री मधुर गाती है। काणी स्त्री विलंब गाती है, गौरवर्ण स्त्री चतुर गाती है और अंधी स्त्री द्रुत गाती है। पिंगला स्त्री विस्वर गाती है।

वेदों में संगीत का प्रभाव

चार वेदों में एक वेद 'सामवेद' है। 'साम' का मतलब गाना है। वैदिक मान्यतानुसार संगीत की शुरुआत यहीं से होती है। 'यजुर्वेद' में भी संगीत के प्रसंग में वीणा, शंख आदि का विवेचन मिलता है। वैदिक विद्वानों ने भी संगीत के ऊपर महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे हैं। मानस-शास्त्रियों का यह अभिमत है कि संगीत के द्वारा तनाव दूर होता है, स्मरण शक्ति बढ़ती है और एकाग्रता प्रगाढ़ होती है।

बौद्ध साहित्य में संगीत

जिस तरह जैन और वैदिक साहित्य में संगीत कला का महत्त्व है, उसी प्रकार बौद्ध साहित्य में भी संगीत कला का महत्त्व है। यहां भी संगीत की चर्चा उपलब्ध होती है। बौद्ध परंपरा में भी 'सात स्वरों' के नाम मिलते हैं। बौद्ध दर्शन में 'विनयपिटक' एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उसमें राजगृह की पहाड़ी के समाज का वर्णन है। इसमें नृत्य, नाटक, संगीत आदि का भी रोचक विवेचन मिलता है। वाराणसी प्राचीन समय से ही संगीत का प्रमुख केंद्र रहा है। कभी-कभी संगीत पर प्रतिस्पर्धाएं भी होती रही हैं।

मध्य युग में संगीत

मुगल काल में संगीत का अत्यधिक प्रभाव रहा है। बाबर बड़े ही संगीत प्रिय थे। हुमायूं के दरबार में प्रति सप्ताह संगीत गोष्ठियां होती थीं और संगीतकारों को इनाम भी मिलता था। अकबर के शासनकाल में छत्तीस संगीताचार्य थे। उन श्रेष्ठ-गायकों में तानसेन सर्वोत्कृष्ट गायक थे और बादशाह के अत्यधिक प्रियपात्र थे। तानसेन की ऊर्जा-शक्ति इतनी विकसित थी कि जब वे मेघ-मल्हार राग को मन ही मन गुनगुनाते तो पानी बरसने लग जाता और दीपक राग का आलाप करने से दीप जल उठता। यह एक जुनश्रुति है कि तानसेन के गुरु स्वामी हरिदासजी ने प्रभु-भक्ति में तल्लीन होकर एक बार ऐसा संगीत गाया कि शहंशाह अकबर आनंद-विभोर होकर मूर्च्छित हो गए।

सचमुच स्वरों में अद्भुत ताकत होती है। स्वर लहरी के बल पर पत्थर भी पानी में तैर सकता है। वर्तमान में भी संगीत का अद्भुत चमत्कार सुना व देखा जाता है। यंत्रीकृत गौशालाओं में जहां गौ-दोहन हाथ से न होकर मशीनों से होता है, वहां भी गायों को दुहने के समय

गौ-कक्षों में लगे ध्वनि-यंत्रों द्वारा संगीत-लहरी प्रसारित की जाती है, ताकि गाएं शांत मन से अधिक दुग्ध दे सकें। तेरापंथ धर्मसंघ में भी अन्य विधाओं के साथ-साथ संगीत कला का महत्त्व बेजोड़ है। हृदय-पटल पर संगीत की स्वर-लहरी जब-जब झंकृत होती है, तब अनेक कंठों से गुनगुनाहट शुरू हो जाती है। ❖

कर्म : गीता दृष्टि

पृष्ठ 13 का शेष

किया और परस्पर प्रतिस्पर्धा के जो दुष्परिणाम हो सकते हैं, उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया। इसने यह माना कि श्रेष्ठता धन-सम्पत्ति की नहीं है, अपितु ज्ञान की है और महत्त्व-विषयक जो इसका निर्णय है—वह सही है।

जीवन की चारों अवस्थाओं या आश्रमों में अंतिम संन्यास की अवस्था है। इसमें आकर मनुष्य को आदेश दिया गया है कि वह अपने को संसार के व्यवहार से पृथक कर ले। कभी-कभी यह कहा गया है कि इस आश्रम में तब प्रवेश करना चाहिए, जबकि शरीर क्षीण होने लगे और मनुष्य अपने को कार्य करने के अयोग्य अनुभव करने लगे। किंतु, चूंकि स्वार्थमयी कामनाओं का त्याग ही सच्चा संन्यास है—इसलिए यह गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी संभव है। यह कहना उचित न होगा कि गीता के मत में हम तब तक मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते, जब तक कि अंतिम आश्रम संन्यास को ग्रहण न कर लें।

गीता में प्रतिपादित भाव से जो कर्म किया जाता है उसकी पूर्ति ज्ञान में होती है। अहंकार के भाव को दूर करके दैवीय भाव को जगाना चाहिए। यदि हम ऐसा कर सके तो हमें सिद्धांत का अभिप्राय समझ में आ जाएगा और उस अवस्था में हृदयानुभूत भक्ति भी दैवीय शक्ति के प्रति उत्पन्न हो जाएगी। इस प्रकार कर्म मार्ग हमें एक ऐसी दशा को प्राप्त कराता है जहां भावना, ज्ञान और इच्छा—सब विद्यमान रहते हैं।

उपरोक्त वृत्तांत से यह स्पष्ट है कि सेवा का मार्ग ही मोक्षप्राप्ति का भी मार्ग है। अनासक्ति और वैयक्तिक स्वार्थ से रहित भाव से किया गया कर्म उतना ही प्रभावकारी है, जितना कि अन्य कोई उपाय हो सकता है और उसे ज्ञानरूपी उपाय की अपेक्षा निम्नस्तर का नहीं समझना चाहिए।

अब हम मनुष्य के मोक्ष के विषय में गीता के विचार पर ध्यान दें। मनुष्य की इच्छा का निर्णय पूर्व-स्वभाव, पैतृक संस्कारों, प्रशिक्षण तथा परिस्थिति—इन सबके आधार पर होता है। जीवात्मा की परम अवस्था के विषय में सत्य चाहे कुछ भी क्यों न हो, भौतिक प्रकृति के बंधन से मुक्त होने पर सदाचार के स्तर पर इसकी एक स्वतंत्र पृथक सत्ता अवश्य है। मनुष्य के मोक्ष के विषय में जीवन के संपूर्ण दार्शनिक ज्ञान की व्याख्या करने के अनंतर कृष्ण अंत में अर्जुन से यही कहते हैं कि—'जैसा तुम चाहो, वैसा कर्म करो।'—मनुष्य की आत्मा के ऊपर कोई भी सर्वशक्ति-संपन्न प्रकृति नहीं है। हम प्रकृति के आदेशों का अनुसरण करने के लिए बाध्य नहीं हैं। वस्तुतः हमें अपनी रुचि तथा अरुचि के प्रति सावधान रहने को कहा गया है, क्योंकि—'यही जीवात्मा के मार्ग में बाधक बनती है।'

प्रकृति की रचना में जो-कुछ अनिवार्य है और जिसका हम दमन नहीं कर सकते एवं मन की उन भ्रांतियों तथा दुविधाओं में, जिनसे हम अपने को मुक्त कर सकते हैं—भेद किया गया है। वे प्राणी जिनकी आत्मा संघर्ष करने के पश्चात् उन्नत अवस्था को प्राप्त नहीं हुई है—भौतिक-प्रकृति के प्रवाह में बह जाते हैं। मनुष्य, जिसमें बुद्धि का प्राधान्य है—प्रकृति की गति का सामना कर सकता है। उसके सब कर्म बुद्धिसंपन्न इच्छा के अनुसार होते हैं। मनुष्य जब तक वासना के वश न हो, तब तक साधारण स्थिति में वह पशुओं का सा विवेकशून्य जीवन नहीं बिताता।—'वह कौन-सी शक्ति है जो मनुष्य को बलात् पाप की ओर ले जाती है और प्रायः प्रकट रूप में उसकी इच्छा के भी विरुद्ध मानो किसी गुप्त शक्ति के द्वारा बाधित हो?'—उत्तर में कहा गया है कि—'यह काम-वासना है, जो उसे उकसाती है। यही लोक में मनुष्य की शत्रु है।'—यह मनुष्य के सामर्थ्य की बात है कि वह अपनी वासना को वश में करके अपने आचरण को बुद्धि के द्वारा नियमबद्ध कर सके।

निष्कर्षतः कर्म की सिद्धि के लिए पांच अवयवों का होना आवश्यक है। वे हैं—अधिष्ठान, अथवा आधार या कोई ऐसा केंद्र जहां से कर्म किया जा सके; कर्ता—अर्थात् कर्म का करने वाला; करण—अर्थात् प्रकृति का साधन; चेष्टा—अर्थात् प्रयत्न या पुरुषार्थ; और दैव, अथवा भाग्य। यह अंतिम घटक मनुष्य की शक्ति के अतिरिक्त, एक शक्ति या शक्तियां हैं। यही एक सार्वभौम तत्त्व है, जो कर्म के परिवर्तन की पृष्ठभूमि में सदा विद्यमान रहता है और इसी के कारण कर्मफल का निर्णय कर्म के रूप में अथवा पुरस्कार के रूप में होता है। ❖

कहानी

जीता-जागता व्यक्ति

❑ रघुवीर सहाय

छुड़ा दूं, मैंने सोचा। इसमें सोचने की क्या बात है? पर, क्या वह खुद कोशिश नहीं कर रही है, उसे अपने आप करने न दूं। मैं समझ सकता हूं कि खुद कोशिश करने का क्या अर्थ होता है और सहानुभूति एक जगह अनादर भी बन जा सकती है। वह इस समय एक महत्त्वपूर्ण संघर्ष कर रही है, जैसे उसने जरूरी समझा है और जैसे वह ही कर सकती है। उसे करने दूं? अंत तक ले जाने दूं?—जैसे उसे सुखकर होगा।

अकसर मेरा मित्र टोका करता—'क्या देखा करते हो सड़क पर चलते हुए।' कुछ नहीं, दिखाई देता है, इसलिए देखता हूं। 'और मैं समझता हूं कि कोई चीज देखते चलते हो कि पड़ी मिल जाए तो उठा लूं।'

—'हां, शायद यह इरादा रहता है, इनकार नहीं कर सकता। पर ताज्जुब है कि आज तक कुछ उठा कर ला नहीं पाया। वास्तव में सड़क पर तमाम लोग...'

—'बेशक, सबके सामने तुम्हारी हिम्मत ही न होगी और जिसने पहले देखी होगी, वह तुम्हें क्यों हाथ लगाने देगा।'

—'जी नहीं'—मैं हंसा—'लोगों को लो...'

—'अच्छा'—उसने आंख मारी—'आप कोई जीती-जागती चीज घर ले जाएंगे।'

—'नहीं नहीं'—मैंने कहा—'लोगों को ही देखो, क्या यह कुछ कम रोचक है कि कितनी भीड़ है और सब अपने-अपने रास्ते जा रहे हैं और किसी को परवाह नहीं है कि मैं क्या कर रहा हूं। क्योंकि मैं उन्हें देखता हूं, पर हस्तक्षेप नहीं करता। देखो न, इस तरह मुझे भी औरों के साथ एक अस्तित्व मिल जाता है और वे सब ज्यादा से ज्यादा स्वतंत्र रहते हैं, क्योंकि कम से कम दखल देते हैं...'—फिर अपनी बात सरल करने के लिए मैंने कहा—'मेरा मतलब है यह मुझे अच्छा लगता है।'

—'हूं, अहं, अहं, सिर्फ अहं'—उसने कहा—'अपने-आप को जाने क्या समझते हो।'

—'ठहरो, यह देखो यह देखो'—मैंने पैर टेक कर साइकिल रोक ली। वह कुछ दूर आगे जाकर रुका। सिर घुमाकर बोला—'अमां पा गए कुछ?'

वह एक-आधी घरेलू चिड़िया थी। गौरैया कदापि नहीं। उससे कुछ ज्यादा रंगीन मेल की, जिसकी पीली चोंच होती है और पीले पंजे, काला सिर और कत्थई देह होती है। मुझे मालूम नहीं, वह पिड़कुलिया है या देसी मैना, पर इस मनःस्थिति में उसे कभी नहीं देखा था, जिसमें वह इस समय थी।

मित्र बोला—'यह यहां क्या करने आ गई?'—जैसे यह उन्हीं की गलती हो और अब उन्हें सहानुभूति के लिए मजबूर होना पड़ रहा हो।

चिड़िया बिना पर खोले हुए ही फड़फड़ाई। उसने शरीर का बोझ एक बार इधर, फिर उधर डाला और दम लेने लगी। कोलतार के एक कीचड़ में वह फंस गई थी। बनती सड़क के लिए बजरी का एक ढेर पास ही लगा था, उस पर पांच-छह कौए और-और तरफ देखते हुए बैठे थे।

मित्र साइकिल घुमा कर पास आया—'अभी से जमा हो गए? अमां मरने तो दो किसी को चैन से!'

क्या सचमुच चिड़िया मर रही थी। मर जाती। तारकोल बह कर वहां जमा हो गया था। उस पर धूल जम

गई थी और अनजाने में उस पर वह उतर पड़ी थी। काफी देर से वह छुड़ा रही होगी तभी कौओं ने देखा होगा—उड़ नहीं रही है तो खाद्य है।

सूरज डूब रहा था। ढलुआं सड़क पर झुंड की झुंड मशीनें आदमियों को लेकर पीली रोशनी में पैठी जा रही थीं। हम लोग जहां खड़े थे, वहां यातायात ऐसा हो गया जैसे बहते पानी में कहीं कोई टहनी अटक जाए तो वह भंवर बना ले।

—'जरा किनारे हो लें'—मैंने कहा—'नहीं, नहीं, इधर से नहीं, चिड़िया से और दूर जाकर फुटपाथ पार करेंगे।'—मित्र ने घूर कर देखा। हम लोग बिल्कुल हाशिए पर जाकर खड़े हो गए, पर वहां भी चिड़िया से करीब उतनी ही दूर थे।

चिड़िया के लिए कोई उम्मीद न थी। एक पंजा जरा-सा हुमसता, तो दूसरी ओर जोर पड़ता और वह फिर फंस जाती। चौंक कर देखती और फिर इधर-उधर बदन को झटके देती और पंख न खोलती। शायद पंख खोलने से पंजे और धंसने लगते हों, लेकिन उसका कलेजा मुंह को आ जाता।

मित्र ने कहा—'देखो यार, बिल्कुल आदमियों की तरह कर रही है।'

छुड़ा दूं, मैंने सोचा। इसमें सोचने की क्या बात है? पर, क्या वह खुद कोशिश नहीं कर रही है, उसे अपने आप करने न दूं। मैं समझ सकता हूं कि खुद कोशिश करने का क्या अर्थ होता है और सहानुभूति एक जगह अनादर भी बन जा सकती है। वह इस समय एक महत्त्वपूर्ण संघर्ष कर रही है, जैसे उसने जरूरी समझा है और जैसे वह ही कर सकती है। उसे करने दूं? अंत तक ले जाने दूं?—जैसे उसे सुखकर होगा।

—'मूर्ख'—मित्र बोला—'उसे छुड़ा क्यों नहीं देता? अहंवादी लोग दूसरों को सताए बिना रह ही नहीं सकते।'

उसने साइकिल दीवार के सहारे छोड़ दी और खुद आगे बढ़ा। मैंने रोक लिया—'रहो रहो। अपने अहं को थोड़ा और रोक रखो'—मैंने उससे मन में कहा। वह रुक तो गया, पर एक पत्थर उठा कर उसने कौओं पर फेंका। जिसे लगने वाला था, वह फुदक कर किनारे हो गया, उसने इधर देखा तक नहीं।

न चिड़िया ही हमारी तरफ देख रही थी। उसने कौओं की ओर भी न देखा था, यद्यपि उनका होना वह जानती थी। वह डरी हुई थी, पर उसका डर एक परिस्थितिगत वास्तविकता थी। धीरे-धीरे वह उसके समकक्ष आ चुकी थी। स्पष्ट देखा जा सकता था कि उसकी कोशिश सिर्फ छूट कर उड़ जाने की है। कौए हैं तो हैं और वे उसके फंस गए होने की स्थिति का एक अंग ही हैं।

तो क्या मैं छुड़ा दूं। इसमें सोचना क्या है। पर, वह अपने को छुड़ा लेगी, निश्चय ही छुड़ा लेगी। वह आखिरकार मिट्टी की नहीं है, भुसभरी भी नहीं है और यहां उसके संघर्ष में क्या है, जो मैं तरस खाते हिचकिचाता हूं?

फिर भी, फिर भी, फिर भी··· सहसा और देखते रहना असंभव हो गया। आखिरकार मैं उससे बड़ा और ज्यादा ताकतवर था। मैं आगे बढ़ा।

पहली बार चिड़िया ने मुझे देखा। जिस तरह वह अभी तक नहीं करना चाह रही थी, वैसे पंख फटफटाकर अपने को हुमासने लगी। एक कदम मैं और आगे बढ़ा और मन में कहा, बस क्षण-भर में सब हो जाएगा।

चिड़िया ने कातर आंखों से मुझे देखा। उनमें केवल अविश्वास था। उसने चोंच खोल दी और बुरी तरह डर कर वह छटपटाई।

मैंने कहा—मैं तुम्हें छुड़ाने आ रहा हूं।

जकड़े हुए पंजों पर उसका शरीर दाएं से बाएं पागल की तरह डोलने लगा, जैसे कह रहा हो—नहीं, नहीं।

मैंने कहा—मैं तुम्हें आहिस्ते से छुड़ा दूंगा।

उसने हांफ कर चोंच बंद की और फिर खोली। कहा—नहीं, नहीं, मैं खुद छूटने को बेकरार हूं।

मैंने कहा—ठहरो तो··· हालांकि मैं जान गया था कि उसके सामने मैं कितना बेकार था। मेरे सामने वह सड़क की भीड़ का एक हिस्सा थी—जीता-जागता, जिसे पहले मैंने देखा था, पर उसका अपना अस्तित्व था, जिस पर कोई हाथ नहीं डाल सकता था। मैं उसे केवल भयभीत कर सका था और मैं कुछ कर भी नहीं सकता था, पर उसने अपनी सारी ताकत जुटा ली थी और यह सिर्फ वही कर सकती थी। मैंने मौन रह कर उसे आंख भर देखा। जैसे सम्मोहित होकर वह एक पल थिर आंखों से मुझे देखती रही, फिर कांप कर ऐसे फड़फड़ाई जैसे यह उसका आखिरी फड़फड़ाना हो। फिर उसने पंख खोल दिए और उन्हें तान दिए। अचानक वह छूट गई।

गज भर दूर उड़ कर उसने धूल में पंजे रगड़े और मकानों की तरफ उड़ चली। कौओं में से एक ने एक बार कैंव किया और फिर सब बजरी के ढेर पर बदहवासों की तरह फुदकने लगे।

मित्र बोला—'अमां जाओ, तुमसे कुछ नहीं हो सकता।'

रंगीन आकाश और डूबते सूरज की तरफ बस्ती थी, जिधर चिड़िया तैरती चली जा रही थी। उस पर से दृष्टि उतार कर मैंने पूछा—'क्या?'

वह बोला—'अमां हम तो खुश हुए थे कि चलो तुम्हें कुछ मिल गया, पड़ा हुआ।'

—'हां, मिला तो था'—मैंने कहा।

—'मगर?'—उसने पूछा।

—'मगर'—मैंने कहा—'उसे तो चिड़िया अपने साथ लेकर उड़ गई।' ❖

भगवान में निरंतर जीने का अर्थ है लोक-कल्याण के लिए जीना, लोक के अभ्युदय के लिए जीना और सबसे अधिक लोक के दुख की साझेदारी के लिए जीना, जब तक एक भी कोना उल्लसित होने से रह गया है, जब तक एक भी दुख का कण अपनाने से रह गया है, जब तक जिंदगी एक निरंतर बेचैनी की उन्मदांध यात्रा है, कभी उद्धारक बन कर, कभी उद्धृत बन कर, कभी मोहन बन कर, कभी मोहित बन कर, कभी माधव बन कर, कभी राधा बन कर और कभी-कभी एक ही राधाशरीर में त्वरित क्रम से राधा और माधव बन कर। इस बेचैनी की भी एक शर्त है, दूसरी बेचैनियां इसकी धार में बह चलें, केवल यही एक बेचैनी रहे, जैसे—अनउगे पंख वाले चिरौटे चोंच फैलाए मां के लिए आकुल हो जाते हैं, मां चारा लेकर आती होगी, उस समय शीत-घाम, आंधी-पानी कुछ भी मालूम नहीं पड़ता, पास के कोटर में महाव्याल की जीभ लपलपा रही है, इसका भी ध्यान नहीं रहता, बस मां आ रही होगी, इसी का बेसब्री से इंतजार रहता है; या जैसे सुबह के बंधे बछड़े को शाम होते ही दूध से भरे हुए थन की याद विह्वल कर देती है, कब हुमच-हुमच कर वह अमृत पीने को मिलेगा, दिन कितना लंबा खिंचेगा, कब मेरी आतुरता देखते ही दूर से रंभाती हुई मां के थन मेरे मुंह लगाने के पहले ही पेन्हा उठेंगे; या जैसे दूर अवधि देकर गए प्रियतम के लिए अवधि समीप आते ही आशा-निराशा का निविड संघर्ष छिड़ जाता है, एक क्षण होता है, दो दिन बाकी हैं तो क्या, आज शाम आ जाएंगे, सवेरे कागा उचरा था, फिर दूसरे क्षण ही डर लगता है—कहीं बिलम तो नहीं गए, कहीं बिंध तो नहीं गए और विषाद सांझ की प्रतीक्षा किए बिना गहरा हो जाता है। वैसी बेचैनी हो, तब जिसे दर्शन देना है, जिसे प्यास मिटानी है, जिसे उपासी आंख को रूप का पारण देना है, वह स्वयं बेचैन हो जाएगा, वह 'दीर्घ-दर्शन बन कर आएगा', पर शर्त है—आकुलता ऐसी हो—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः, स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्त्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा, मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्।।

वैसी बेचैनी के बारे में लोगों का खयाल आजकल संभव नहीं, उस आदिम जमाने में जब संचार-साधन नहीं थे, तब यह आकुलता कुछ माने रखती थी, आज तो दुनिया सिकुड़ गई है, दर्शन-श्रवण का सुख लाखों-लाखों कोस की दूरी से भी सुलभ है; पर दर्शन की लालसा का क्या अर्थ? पर, सच तो यह है कि अर्थ आज ही सबसे ज्यादा रखता है; क्योंकि देखना-सुनना सिर्फ आंख-कान से नहीं होता, ऐसा होता तो एक ही साथ लोग रहते हैं, दिन-रात एक-दूसरे को देखते-सुनते रहते हैं, पर न वह देखना होता है, न सुनना होता है। एक ही घर में लगता है लोग एक-दूसरे के लिए प्रवासी हो गए हों, परिचय ही दीवार बन गया हो और आंख से देखना, कान से सुनना हो भी, पर सर्वात्मभाव से देखना-सुनना दूभर हो गया है, क्योंकि बेचैनियां इतने प्रकार की इतनी सारी बढ़ गई हैं कि हर नई बेचैनी पहली वाली बेचैनी को काटती चलती है, पता ही नहीं लगता, कौन बेचैनी सचमुच की बेचैनी है। बेचैनियों की इसी अनविच्छिन्न शृंखला में तो एक दिन ऐसी बेचैनी जुड़ेगी, जिसके आगे कोई बेचैनी न रह पाएगी, रह जाएगा एक कगार और कगार के नीचे एक खड्ढ—काला और डरावना खड्ढ। तब बेचैनी जो भी शक्ल लेगी, बेचैनी के जो सबसे बड़े सौदागर हैं, बेचैनी खरीदना और बेचना ही जिनका धंधा है, वे बनजारे दरवाजे पर अपने-आप आ जाएंगे।

— विद्यानिवास मिश्र

सुमित्रानंदन पंत की कविताएं

•

निर्भय हो, निर्भय मानव!

निर्भय हो, निर्भय मानव!
निर्भीक विचर पृथ्वी पर,
विचलित मत हो विघ्नों से,
निज आत्मा पर रह निर्भर!

है पूर्ण, सत्य अविनश्वर,
है पूर्ण, सत्य रे नश्वर,
है पूर्ण सत्य यह मानव,
है पूर्ण निखिल सचराचर!

मत हो विरक्त जीवन से,
अनुरक्त न हो जीवन पर,
जग परिधि मात्र जीवन की,
स्थित केंद्र अमर उर भीतर!

बन शांत, धीर, क्षमतामय,
बन स्नेही, सहृदय, सहचर,
गुण-दोष-युक्त जग-जीवन,
निज गुण से पर-अवगुण हर!

बढ़ती नित घृणा घृणा से,
तू उसे प्रेम से दे भर
है दीप दीप से जलता,
है प्रेम प्रेम पर निर्भर!

निश्चय आत्मा है अक्षय,
निश्चय मृण्मय तन नश्वर,
यह जीवन-चक्र चिरंतन,
तू हंस-हंस जी, हंस-हंस मर!

•

पुण्य प्रसू

ताक रहे हो गगन?
मृत्यु-नीलिमा-गहन गगन?
अनिमेष, अचितवन, काल-नयन?
निःस्पंद शून्य, निर्जन, निःस्वन?

देखो भू को!
जीव प्रसू को?
हरित भरित
पल्लवित मर्मरित
कुंजित गुंजित
कुसुमित
भू को!

कोमल
चंचल
शाद्वल
अंचल,
कल-कल
छल-छल
चल-जल-निर्मल—

कुसुम खचित
मारुत सुरभित
खग कुल कूजित
प्रिय पशु मुखरित—

जिस पर अंकित
सुर मुनि वंदित
मानव पद-तल!
देखो भू को,
स्वर्गिक भू को,
मानव पुण्य-प्रसू को!

•

मूर्धन्य

ओ इस्पात के सत्य,
मनुष्य की नाड़ियों में बह,
उसके पैरों तले बिछ,
लोहे की टोपी बन
उसके सिर पर मत चढ़!
सिर पर
फूलों का ही मुकुट
शोभा देता है!
स्वप्नों से घर की नींव
पड़ सकती है,
इस्पात
गला कर
नहीं पिया जा सकता!
फूल ही पात्र हैं
जिनसे मधु पिया जाता है!

मैं ही हूं वह मधु
जिसे प्रकृति ने
असंख्य फूलों से चुना है!
जिसमें सभी आकाशों का
सुनहरा मरंद है!
ओ इस्पात के तथ्य
मैं तेरा जूता पहन
दृढ़ संकल्प के चरण
बढ़ाऊंगा,

पर तुझे
मूर्धन्य स्थान
नहीं दे सकता!
तू साधन रह,
साध्य न बन!

पंतजी के जन्म-दिवस (20 मई, 1900) का स्मरण करते हुए

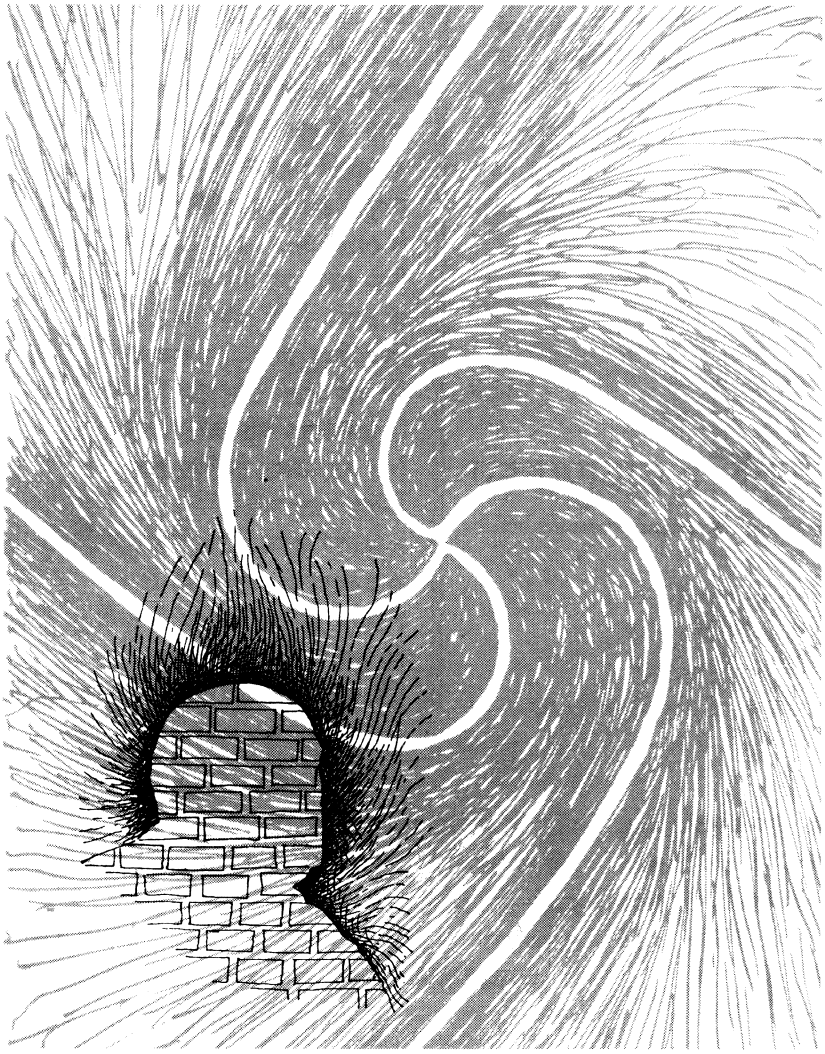

शीलन

मुझे स्वीकार करना चाहिए कि मैं अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में न सिर्फ स्पष्ट भेद नहीं करता, बल्कि कोई भेद ही नहीं करता। जिस अर्थशास्त्र से व्यक्ति या राष्ट्र के नैतिक कल्याण को हानि पहुंचती हो, उसे मैं अनीतिमय और इसलिए पापपूर्ण कहूंगा। उदाहरण के लिए, जो अर्थशास्त्र एक देश को किसी दूसरे देश का शोषण करने की अनुमति देता है, वह अनैतिक अर्थशास्त्र है।

हमारा ध्येय लोगों को सुखी बनाना और साथ-साथ उनकी संपूर्ण बौद्धिक और नैतिक उन्नति सिद्ध करना है। नैतिक उन्नति से यहां मेरा मतलब आध्यात्मिक उन्नति है। यह ध्येय विकेंद्रीकरण से ही सध सकता है। केंद्रीकरण की पद्धति का अहिंसक समाज-रचना के साथ मेल नहीं बैठता।

—महात्मा गांधी

जैन-दर्शन के अनुसार बालुकण में अनंत परमाणुओं का समवाय है। स्कंध के भेद से स्कंध बनते जाएंगे, पर परमाणु कभी किसी परमाणु से अलग नहीं किया जा सकता। विज्ञान के क्षेत्र में भी ऐसी चर्चाओं का बाहुल्य है। प्रोफेसर अन्ड्रेड (Andrade) ने अनुमान बांधा है कि एक ओंस पानी में इतने स्कंध हैं कि संसार के समस्त स्त्री-पुरुष-बच्चे इन्हें गिनने लगें और प्रति सेकंड पांच की रफ्तार से दिन और रात गिनते ही चले जाएं तो उनका वह कार्य चालीस लाख वर्षों में पूरा होगा। इस प्रकार परमाणु व पदार्थ की सूक्ष्मता व सघनता के दोनों ही पक्षों में पर्याप्त उदाहरण उपलब्ध हैं, जो परमाणु की की सूक्ष्म परिणति को सिद्ध करते हैं।

परमाणुवाद : वैज्ञानिक-दार्शनिक विमर्श

❑ समणी विपुलप्रज्ञा

जैन-दर्शन का परमाणुवाद बहुत प्राचीन है और विज्ञान के क्षेत्र में इसकी चर्चा व अन्वेषण होने से आज यही परमाणुवाद 'मजदूर की झोंपड़ी' से लेकर 'विश्व-स्तरीय प्रयोगशाला' तक पहुंच चुका है। परमाणुवाद की प्रगति ने विश्व के सामने अपनी शक्ति, स्वभाव व सामर्थ्य को दिखा दिया है।

अतः सामान्य जनमानस में यह जिज्ञासा अब स्वाभाविक है कि परमाणु क्या है? दर्शन-जगत में हजारों वर्ष पूर्व के प्रतिष्ठित परमाणुवाद में अब क्या-क्या नवीन अवधारणाएं प्रकट हुई हैं? दर्शन और विज्ञान की दृष्टि में परमाणु में क्या-क्या समानता या असमानता हैं? इन सभी जिज्ञासाओं के परिप्रेक्ष्य में हम परमाणुवाद को समझने का प्रयास करेंगे। यद्यपि परमाणुवाद की विवेचना बहुत विस्तार से हो सकती है, पर हम मुख्यतः विज्ञान एवं दर्शन जगत के परमाणुवाद को समीक्षात्मक दृष्टि से समझने का प्रयत्न करेंगे।

दर्शन जगत में परमाणुवाद

भारतीय दर्शन जगत में वैशेषिक-दर्शन के अतिरिक्त अन्य वैदिक-दर्शनों में परमाणु संबंधी चर्चा का विशेष उल्लेख नहीं मिलता, पर जैन-दर्शन में परमाणुवाद का सुविस्तृत ही नहीं, अपितु सुव्यवस्थित विवेचन उपलब्ध है। भगवान महावीर ने परमाणु और पुद्गल के संदर्भ में चर्चा करते हुए कहा है कि यह लोक (सृष्टि) छह द्रव्यों से बना है। ये द्रव्य हैं—

1.	धर्मास्तिकाय	Medium of motion for soul and matter.
2.	अधर्मास्तिकाय	Medium of rest
3.	आकाशास्तिकाय	Space
4.	पुद्गलास्तिकाय	Matter and energy
5.	जीवास्तिकाय	Soul
6.	काल	Time

जैन-दर्शन में 'पुद्गल' शब्द स्पष्टतः परिभाषित है। इसे एक स्वतंत्र द्रव्य माना गया है। जैन-दर्शन का 'पुद्गल' शब्द विज्ञान के पदार्थ (Matter) का पर्यायवाची है। जैन-दर्शन में परमाणु पुद्गल का एक भेद है।

विज्ञान जगत में परमाणुवाद

विज्ञान के क्षेत्र में परमाणुवाद को यूनान की देन माना गया है। डेमोक्रेट्स को इसका आविष्कर्ता मानते हैं।

सर्वप्रथम डेमोक्रेट्स ने कहा कि—यह संसार शून्य-आकाश और अदृश्य, अविभाज्य एवं अनंत परमाणुओं की एक इकाई है। दृश्य और अदृश्य—सारे संगठन परमाणुओं के संयोग और वियोग का ही परिणाम हैं। परमाणु के संदर्भ में डेमोक्रेट्स की अवधारणा इस प्रकार रही है—

1. पदार्थ (Matter) संसार में एकाकार व्याप्त नहीं है, अपितु वह विभक्त (Discrete) है।
2. समस्त पदार्थ-पिंड ठोस परमाणुओं से बने हैं। प्रत्येक परमाणु एक स्वतंत्र इकाई है।
3. परमाणु अच्छेद्य और अभेद्य, अविनाशी है।
4. परमाणु-परमाणु में आकार, लंबाई, चौड़ाई और वजन को लेकर पृथकता होती है।
5. परमाणु के प्रकार संख्यात है, पर हर एक प्रकार के परमाणु अनंत हैं।
6. परमाणु निरंतर गतिशील है।

डेमोक्रेट्स से लेकर ईसा की 19वीं सदी तक परमाणु के नाना अन्वेषण होते रहे और नए-नए तथ्य सामने आते रहे, पर परमाणु वैज्ञानिकों की दृष्टि से अब तक वह अच्छेद्य, अभेद्य व सूक्ष्मतम ही बना रहा है।

विज्ञान के परमाणु की सूक्ष्मता

विज्ञान का परमाणु कितना सूक्ष्म है, इसे इन अनुमानों से जान सकते हैं—

(1) पचास शंख परमाणुओं का भार केवल ढाई तोले के लगभग होता है। इसका व्यास एक इंच का दस करोड़वां हिस्सा है। (2) सिगरेट लपेटने के पहले कागज की मोटाई में एक से एक को सटाकर रखने पर एक लाख परमाणु आ जाएंगे। (3) 'सोडावॉटर' को गिलास में डालने पर जो छोटी-छोटी बूंदें निकलती हैं, उसमें से एक-एक के परमाणुओं को गिनने के लिए संसार के तीन अरब व्यक्तियों को बैठा दिया जाए और बिना खाए-पीए-सोए लगातार प्रति मिनिट तीन सौ की चाल से गिनते जाएं, तो उन नन्हीं बूंदों के परमाणुओं की समस्त संख्या को गिनने में चार महीने लग जाएंगे। भौतिक विज्ञान ने बानबे प्रकार के मौलिक परमाणु माने हैं।

जैन-दर्शन में परमाणुवाद

परमाणु को परिभाषित करते हुए लिखा है—

कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मों नित्यश्च भवति परमाणुः।
एक रस गंध वर्णो द्विसर्शः कार्यलिंगश्च।।

एक परमाणु में एक वर्ण, एक गंध, एक रस और दो स्पर्श होते हैं—रुक्ष या स्निग्ध से एक और शीत या उष्ण से एक परमाणु कार्यलिंग है, अर्थात् वह किसी साधन से नहीं देखा जाता है। परमाणुओं के सामूहिक क्रिया-कलाप से उसका अस्तित्व माना जाता है। उसके स्वरूप को तो 'केवलज्ञानी' तथा परम 'अवधिज्ञानी' ही जानते हैं, देखते हैं।

परमाणु के प्रकार

मुख्यतः चार प्रकार हैं, ये हैं—

1. द्रव्य परमाणु-(पुद्गल परमाणु) Primary unit of mars of matter
2. क्षेत्र परमाणु-(आकाश परमाणु) Primary unit of space
3. काल परमाणु-(समय) Primary unit of time
4. भाव परमाणु-(गुण) Primary unit of strenth of degree

परमाणु की उत्कृष्ट गति

जैन-दर्शन में परमाणु की उत्कृष्ट गति बताते हुए कहा है कि वह एक समय में चौदह रज्जु-प्रमाण वाले लोक के पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चरमांत तक पहुंच सकता है। समय परमाणु की तरह काल का अंतिम टुकड़ा है। हमारी आंखों की पलक के एक बार उठने या गिरने मात्र से असंख्य समय व्यतीत हो जाते हैं। वैसे एक समय में इस छोर से उस छोर तक तीव्र गति से परमाणु गति कर पहुंच जाता है। समस्त ब्रह्मांड चौदह रज्जु का है। एक रज्जु को उदाहरण से समझें—'कोई देव हजार मण के लोह-गोलक को हाथ में उठा कर अनंत आकाश में छोड़ दे और वह लोह-गोलक छह महीने तक गिरता जाए, इस अवधि में जितने आकाश देश का अवगाहन करता है—वह एक रज्जु है। ऐसे चौदह रज्जु वाले लोक में एक समय में ही परमाणु उसके अनंत तक पहुंच सकता है।

परमाणुओं में तारतम्यता

विज्ञान ने बानबे प्रकार के मौलिक परमाणु (Primary elements) माने हैं। जैन-दर्शन ने परमाणु परमाणु के बीच ऐसी कोई भेद-रेखा नहीं बनाई है। कोई भी परमाणु कालांतर में किसी भी परमाणु के सदृश-विसदृश हो सकता है और यह सचाई उन्नत विज्ञान भी अब मानने लगा है। वर्ण, गंध और गुणों से सर्वदा सब परमाणु सदृश्य नहीं रहते। आज एक परमाणु काला, पीला, नीला है। एक

सुगंध-दुर्गंध स्वभाव का है, एक रुक्ष, स्निग्ध स्वभाव का है, तो एक तिक्त-कटु रस वाला है। इसलिए परमाणुओं के अनेक भेद हो जाते हैं। इतना ही नहीं—समान वर्ण, गंध वाले परमाणुओं में भी गुण-तरतमता के कारण अनंत भेद होते हैं। उदाहरणार्थ—विश्व में जितने श्याम परमाणु हैं—वे सब समान अंशों में काले नहीं हैं। एक परमाणु का एक गुण काला है, तो दूसरा गुण असंख्यात, अनंतगुण काला भी हो सकता है। परमाणुओं में गुणांश बदलते रहते हैं।

परमाणुओं का परिणाम अवगाहन

आकाश का एक प्रदेश उतना ही छोटा है, जितना कि एक परमाणु। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है कि सूक्ष्म परिणाम-अवगाहन शक्ति के योग से परमाणु सूक्ष्म-भाव में परिणत हो जाते हैं, जिससे एक-एक आकाश प्रदेश में अनंतानंत परमाणु एवं स्कंधों का निवास निर्विरोध हो जाता है। यह परमाणुओं की सूक्ष्म परिणाम अवगाहना शक्ति का वैचित्र्य है।

परमाणुओं से स्कंध निर्माण की प्रक्रिया

जैन दार्शनिकों ने परिणाम से स्कंध निर्माण की एक व्यवस्थित रासायनिक व्यवस्था दी है। वह है—

1. परमाणु की स्कंध-रूप परिणति में परमाणुओं की स्निग्धता और रुक्षता ही एकमात्र हेतु है।
2. स्निग्ध परमाणु का स्निग्ध परमाणु के साथ मेल होने से स्कंध निर्माण होता है। शर्त इतनी है कि उन दोनों परमाणुओं की स्निग्धता में कम से कम दो अंशों से अधिक का अंतर हो।
3. रुक्ष परमाणु का स्निग्ध परमाणुओं के साथ मेल होने से स्कंध निर्माण होता है, बशर्ते कि उन दोनों परमाणुओं की रुक्षता में कम से कम दो अंशों से अधिक का अंतर हो।
4. स्निग्ध और रुक्ष परमाणुओं के मिलन से तो स्कंध निर्माण होता ही है। चाहे वे विषम अंश वाले हैं, चाहे सम अंश वाले।

यह सारा लोकाकाश परमाणुओं से भरा है। इनके स्वाभाविक मिलन में उक्त विधि के अनुसार नित-नए स्कंधों का निर्माण होता रहता है।

परमाणु जनक : रदरफोर्ड

कई वैज्ञानिकों ने अणु से परमाणुओं को अलग किया है। उन्होंने कहा छब्बीस साल तक परमाणु सूक्ष्म अवयव रहा। सन् 1897 ई. में सर जे. जे. टामसन ने परमाणु के अन्वेषण के समय एक टुकड़ा पाया, जो छोटे से 'हाइड्रोजन' परमाणु से भी अति छोटा था। इसी रहस्यमय अणु ने परमाणुवाद का कायापलट कर दिया। जो परमाणु ठोस सूक्ष्मतम इकाई के रूप में माना गया था, विविध अन्वेषणों से उसी परमाणु में—'ढोल में पोल'—वाली बात निकली। टामसन के शिष्य रदरफोर्ड ने परमाणु के भीतरी ढांचे के बारे में बहुत महत्त्वपूर्ण खोजें कीं। तभी तो लोग उन्हें 'परमाणु के पिता' कहते हैं। इसी छोटे परमाणु के टुकड़े का एक महत्त्वपूर्ण भाग 'इलेक्ट्रोन' कहा जाता है।

परमाणु का वर्तमान स्वरूप

परमाणु के उदर में सौर परिवार (Solar system) का एक नया संसार निकल पड़ा है। प्रत्येक परमाणु में अनेक कण हैं। कुछ केंद्र में स्थिर हैं, तो कुछ परिक्रमणशील हैं। जैसे सूर्य के चारों ओर शनि, बुध, मंगल आदि ग्रह तीव्र गति से परिभ्रमण करते हैं। केंद्रस्थ कणों में धन-विद्युत और परिक्रमाशील कणों में ऋण-विद्युत होती है। सारे परमाणु बानबे मौलिक भेदों में बंट गए हैं—कारण रहा ऋणाणुओं व धनाणुओं का क्रमिक अंतर।

हाइड्रोजन परमाणु

बानबे तत्त्वों में प्रथम स्वतंत्र तत्त्व है—हाइड्रोजन परमाणु। इसमें एक धनाणु है, जिसे 'प्रोटोन' कहते हैं और एक ऋणाणु है—जिसे 'इलेक्ट्रोन' कहते हैं। धन बिजली का कार्य है—किसी भी पदार्थ को अपनी ओर खींचना। ऋण बिजली का कार्य है—पदार्थ को दूर फेंकना। इन दो विरोधी कणों का परिणाम 'हाइड्रोजन' अणु है।

परमाणु बम और उद्‌जन बम

अमेरिका और रूस ने उद्‌जन बमों का परीक्षण किया, जिससे ज्ञात हुआ कि 'रेडियो' क्रियात्मक अणु सहस्रों मील दूर नभोमंडल में छितर जाते हैं। उनका विध्वंसक परिणाम जन-जीवन पर भारी हानिकारक असर करता है। रेडियो-क्रिया (Radio-Activity) का अर्थ है सहज-भाव से या कृत्रिम रूप से जब परमाणु के मूलभूत कण—'इलेक्ट्रोन' और 'प्रोटोन' अलग होते हैं, तो बम फटने की तरह धड़ाक के साथ एक प्रकार की लौ निकलती है, जो प्रकाश की भांति आगे से आगे फैलती जाती है। इस लौ के प्रसरण को रेडियो-क्रिया कहते हैं। पुद्‌गल के रहस्यमय स्वभावों का यह एक अच्छा उदाहरण है।

परमाणु बम और उद्जन बम पौद्गलिक शक्तियों के विचित्र परिणाम हैं। जब वैज्ञानिकों को ज्ञात हुआ कि परमाणु के बीजाणुओं की इकाई में अपार शक्ति भरी पड़ी हुई है, तब वैज्ञानिकों ने परमाणु बम का आविष्कार करना शुरू किया।

विज्ञान और जैन-दर्शन में 'परमाणु' की समानता और असमानता

भगवान महावीर ने परमाणु के संदर्भ में कहा—परमाणु पुद्गल अविभाज्य, अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य व अग्राह्य है। वज्रपटल से उसका विभाग नहीं हो सकता है। किसी परमाणु का तीक्ष्णातितीक्ष्ण शस्त्र से भी उसका भाग नहीं हो सकता। वह तलवार की धार पर रह सकता है। वह अग्निकाय में प्रवेश करके भी जलता नहीं है। पुष्कर-संवर्त महामेघ में प्रवेश कर आर्द्र नहीं होता है। परमाणु पुद्गल अनद्य है, अमध्य है, अप्रदेशी है। जैन-दर्शन का परमाणु अरवल है। डेमोक्रेट्स ने परमाणु के संदर्भ में कहा कि—'परमाणु अच्छेद्य, अभेद्य और अविनाशी है।' वे पूर्ण हैं, नए हैं, जैसे कि संसार की आदि में हैं।

असमानता

जैन-दर्शन का परमाणु अरवल था, और रहेगा। पर, डेमोक्रेट्स का अच्छेद्य-अभेद्य परमाणु आज टूट गया है। जैन-दर्शन कहता है—परमाणु इंद्रियग्राही नहीं है। परमाणु में मनुष्य-कृत कोई क्रिया व गति नहीं हो सकती। वास्तव में वैज्ञानिक ने जिसे परमाणु कहा, वह अनेक परमाणुओं से संघटित कोई स्कंध ही था। अब तो प्रयोगशालाओं में प्रमाणित हो चुका है कि जिन परमाणुओं को अच्छेद्य, अभेद्य, सूक्ष्मतम माना था, वह वैसा नहीं है। उसमें 'इलेक्ट्रोन', 'प्रोटोन' है। जैन-दर्शन के अनुसार 'इलेक्ट्रोन' भी परमाणु नहीं है, क्योंकि वह मनुष्य-कृत नाना प्रक्रियाओं से प्रभावित होता रहता है। वैसे भी वैज्ञानिकों के लिए बाएं हाथ का खेल है—'इलेक्ट्रोनों' को कहीं से हटा देना और कहीं लगा देना। अतः परमाणु के भीतर जितने भी कण हैं, वे सूक्ष्मतम या परमाणु कहलाने के योग्य नहीं हैं। वैज्ञानिकों के खोजे गए सूक्ष्म कण असंख्य व अनंत प्रदेशात्मक स्कंध ही हैं।

परमाणु की गति में समानता

जैन-दर्शन के अनुसार परमाणु कम से कम एक समय में एक आकाश प्रदेश का अवगाहन कर सकता है और उसी समय अधिक से अधिक रज्जु वाले लोक का—अर्थात् सारे विश्व का अवगाहन कर सकता है। आधुनिक विज्ञान ने भी अणु-परमाणु की ऐसी गतियां पकड़ ली हैं, जिसके बारे में साधारण-जन कल्पना भी नहीं कर सकता। विज्ञान के अनुसार हर एक 'इलेक्ट्रोन' अपनी कक्षा पर प्रति सेकंड 1300 मील की रफ्तार से गति करता है। गैस के पदार्थों में अणुओं का कंपन इतना शीघ्र है कि प्रति सेकंड छह अरब बार परस्पर टकरा जाते हैं, जबकि दो-अणुओं के बीच का स्थान एक इंच का तीस लाखवां हिस्सा है। प्रकाश की गति प्रति सेकंड 1,86,000 मील है। हीरे आदि ठोस पदार्थ में अणुओं (Mlecules) की गति प्रति घंटा 960 मील है।

असमानता

अणु-परमाणु की गति के संबंध में समानता के साथ-साथ दोनों में असमानता भी नजर आती है। विज्ञान के अनुसार 'इलेक्ट्रोन' सबसे छोटा कण है और उसकी गति गोलाकार में है। जैन-दर्शन के अनुसार परमाणु की स्वाभाविक गति सरल रेखा में है और वैभाविका गति वज्क रेखा में है।

परमाणुओं की सूक्ष्म परिणति

परमाणु की विचित्रता इतनी आश्चर्यकारी है कि एक परमाणु अपने ही सदृश एक आकाश-प्रदेश में पूरा समा जाता है और वही अपनी सूक्ष्म-परिणाम अवगाहन शक्ति से उसी आकाश प्रदेश में अनंतानंत परमाणु निर्विरोध एक साथ ठहर जाते हैं। यह परमाणु की सूक्ष्म परिणति है। परमाणुओं की सूक्ष्म परिणति के संबंध में वैज्ञानिकों की पहुंच इस पराकाष्ठा तक तो नहीं हुई है। फिर भी वे जैन दार्शनिकों द्वारा कही गई बातों की पुष्टि करते हैं। वैज्ञानिक परमाणुओं की सूक्ष्म परिणति के विषय में कहते हैं कि एक 'स्कवायर इंच' काष्ठ के टुकड़े में और उतने ही बड़े लोहे के टुकड़े में भार का जो अंतर है—वह परमाणुओं की सघनता मात्र है। जितने आकाश खंड को काष्ठ के थोड़े-से परमाणुओं ने घेर लिया, उतने ही आकाश खंड में अधिकाधिक परमाणु एकचित्त होकर खनिज पदार्थ के रूप में रह जाते हैं। आकाश में कई ग्रहपिंड सघन हैं। ऐसे ग्रह-पिंडों की सघनता का वर्णन एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक ने इन शब्दों में किया है—'इन आकाशीय पिंडों में से कुछ एक में (परमाणु) पदार्थ इतनी सघनता से भरा है कि एक 'क्यूबिक-इंच' टुकड़े में सत्ताईस मन वजन होता है। सबसे छोटा तारा जो हाल ही में खोजा गया है, उसके एक 'क्यूबिक इंच' में 16740 मन वजन होता है। क्या कोई

यह कल्पना कर सकता है कि एक 'क्यूबिक इंच' टुकड़े को उठाने में बड़े से बड़े क्रेन भी असफल रह जाएंगे? कहा जाता है कि जेष्ठ तारा इतना भारी है कि अंगूठी के एक नग जितने टुकड़े में आठ मन वजन होता है। जैन-दर्शन के अनुसार बालुकण में अनंत परमाणुओं का समवाय है। स्कंध के भेद से स्कंध बनते जाएंगे, पर परमाणु कभी किसी परमाणु से अलग नहीं किया जा सकता। विज्ञान के क्षेत्र में भी ऐसी चर्चाओं का बाहुल्य है। प्रोफेसर अन्ड्रेड (Andrade) ने अनुमान बांधा है कि एक ओंस पानी में इतने स्कंध हैं कि संसार के समस्त स्त्री-पुरुष-बच्चे इन्हें गिनने लगें और प्रति सेकंड पांच की रफ्तार से दिन और रात गिनते ही चले जाएं तो उनका वह कार्य चालीस लाख वर्षों में पूरा होगा, इस प्रकार परमाणु व पदार्थ की सूक्ष्मता व सघनता के दोनों ही पक्षों में पर्याप्त उदाहरण उपलब्ध हैं, जो परमाणु की सूक्ष्म परिणति को सिद्ध करते हैं।

परमाणु में उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य

जैन-दर्शन के अनुसार पदार्थ त्रिगुणात्मक युक्त है अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। परमाणु का समूह में बनना और बिगड़ना प्रति समय चालू है। फिर भी परमाणुत्व-धर्म सदा सुरक्षित है। एक भी परमाणु न कभी नया बनता है और न कभी किसी परमाणु का विनाश होता है। वे इस परिवर्तनशील विश्व के शाश्वत सदस्य हैं। लकड़ी जल गई—कुछ द्रव्य कोयला बना, कुछ राख और कुछ धुआं—पर, परमाणु ज्यों के त्यों रहे। केवल उनके पर्याय बदले हैं। लकड़ी जल कर राख हुई, यह स्थूल परिवर्तन है। पयार्यों का स्थूल परिवर्तन कदाचित है, पर सूक्ष्म परिवर्तन प्रति समय होता है। जैसे लकड़ी सुरक्षित स्थान में स्थिर पड़ी है। फिर भी परिवर्तन निरंतर हो रहा है। धीरे-धीरे वही काष्ठ द्रव्य जीर्ण-शीर्ण होकर मिट्टी के रूप में परिणत हो जाता है। तब समझ में आता है कि काष्ठ द्रव्य में पूर्वाकार का परित्याग और अंतराकार का आदनरूप परिवर्तन चालू ही था। 'गोम्मट सार जीवकांड' में भी बताया है—पुद्गल द्रव्य में संख्यात, असंख्यात अनंत परमाणु चलित होते रहते हैं। आधुनिक विज्ञान भी इस सिद्धांत में पूर्ण सहमत है। शक्ति और पदार्थ को एक ही तत्त्व मानने के कारण वैज्ञानिकों का कहना है कि पदार्थ शक्ति के रूप में बदलता है, पर शक्ति भी नष्ट न होकर किसी प्रकार-विशेष में बदल जाती है। एल. ए. कोल्डिंग ने इसी बात को प्रमाणित करते हुए लिखा है— ·····शक्ति अविनाशी और शाश्वत है। इसलिए जहां कहीं और जब कभी भी वह नष्ट होती देखी जाती है, वहां वह नष्ट न होकर एक परिवर्तन लेती हुई दूसरे रूप में प्रकट हो जाती है, पर उस परिवर्तन में उसकी मात्रा ज्यों की त्यों स्थिर रहती है। तात्पर्य रूप में कहा जा सकता है कि स्कंध टूट कर 'इलेक्ट्रोन', 'प्रोटोन' और शक्ति रूप में परिणत हो जाते हैं, पर पदार्थ का आण्यंतिक नाश कहीं नहीं होता। पदार्थ शक्ति में जैसे बदलता है, शक्ति भी पदार्थ में पुनः बदल जाती है। इसलिए आधुनिक पदार्थ विज्ञान में पदार्थ की सुरक्षा का सिद्धांत और 'शक्ति की सुरक्षा का सिद्धांत, ये दो विषय मूलभूत हैं।

असमानता

जैन-दर्शन में पुद्गल को स्पर्श, गंध, रस, वर्ण युक्त माना है। इंद्रियग्राह्य भी माना है। यह पुद्गल की परिभाषा है, पर वैज्ञानिकों ने पदार्थ (परमाणु) की परिभाषा की है—जिसमें लंबाई, चौड़ाई, मोटाई हो—वह पदार्थ है। जैन दार्शनिक कहते हैं—पदार्थ की यह अत्यंत स्थूल परिभाषा है। परमाणु तो इस परिभाषा से बाहर ही रह जाते हैं।

पुद्गल और अणु में समानता

पुद्गल का स्वभाव है—गलन, मिलन, संयोग-वियोग होना। विज्ञान के क्षेत्र में 'एटम बम' और 'हाइड्रोजन बम' पूर्ण गलन धर्मत्वात की पुष्टि करते हैं। 'हाइड्रोजन बम' पूर्ण धर्म का उदाहरण है, क्योंकि 'हाइड्रोजन' के चार परमाणुओं के संयोग से 'हेलिथम' का एक परमाणु बनता है। उस संयोग से जो कुछ-भाग शक्ति रूप में परिणत होता है, वह 'हाइड्रोजन बम' है। 'एटम बम' 'यूरेनियम' के परमाणु समूह के टूटने से बनता है। यह गलन (वियोग) धर्म का उदाहरण है। आधुनिक पदार्थ-विज्ञान में भी उद्जन बम को 'फ्युजन बम' कहा गया है। जिसका अर्थ है—पृथक होना। अणुशक्ति की महिमा को व्यक्त करने वाले जैन-दर्शन में शास्त्रीय उदाहरण है—तेजोलेश्या, जो उष्ण और शीतल, दोनों है। जबकि अणु शक्ति तो केवल उष्मा रूप है।

स्कंध निर्माण की प्रक्रिया में समानता

जैन-दर्शन की मान्यता है कि प्रत्येक परमाणु में स्निग्धत्व और रुक्षत्व प्राप्त है—जो बंधन का कारण है। आधुनिक-विज्ञान की भी मान्यता है कि पदार्थ मात्र में धन-विद्युत (Positive charge) और ऋण-विद्युत (Negative

charge) है—जो बंधन का कारण माना गया है। दोनों में सिर्फ शब्द भेद का अंतर है। कई दार्शनिकों ने विद्युत के विषय में बताते हुए कहा कि—'आकाश में चमकने वाली विद्युत परमाणुओं के स्निग्ध और रुक्ष गुणों का परिणाम है।' स्पष्ट है कि इन दो गुणों से धन (Positive) और ऋण (Negative) बिजलियां पैदा होती हैं।

असमानता

जैन-दर्शन में दो से लेकर यावत-अनंत परमाणुओं के एकीभाव को स्कंध कहा है। एक स्कंध का एक से अधिक परमाणुओं की इकाई में टूटने का परिणाम भी एक स्वतंत्र स्कंध है। विज्ञान ने भी स्वीकार किया कि पदार्थ स्कंधों से बने हुए हैं। स्कंध व्याख्या में समानता होते हुए भी कुछ असमानता नजर आती है। जैन-दर्शन पदार्थ की एक इकाई को एक स्कंध मानता है। जैसे चाक के दो टुकड़े या सहस्र टुकड़े किए; तो वह सहस्र स्कंध बनेंगे। यदि उसको पीसकर चूर्ण कर लिया तो एक-एक (अणु) कण एक-एक स्कंध है। पर, आधुनिक विज्ञान में चाक का वह अणु ही केवल स्कंध है। यदि फिर अणु को तोड़ा जाए तो वह अपने चाकपन को खोकर किसी अन्य पदार्थ जाति में परिणत हो जाएगा। जैन दृष्टि से चाक का वह अंतिम अणु स्कंध ही है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जैन-दर्शन का परमाणुवाद सहस्रों वर्ष पूर्व प्रतिपादित होने पर भी आज नया-सा लगता है। जैन दार्शनिकों ने वस्तुतः परमाणुवाद का सुव्यवस्थित और सुविस्तृत रूप में निरूपण किया है। आधुनिक पदार्थ-विज्ञान में आदि से लेकर अब तक नव-नवोन्मेष होते रहे हैं। आज के इस यंत्र-प्रधान युग में भी जब परमाणुवाद एक पहेली बना हुआ है, तो उस युग में प्रचलित परमाणुवाद को जैन दार्शनिकों ने सूक्ष्मता के साथ पदार्थ के उत्पाद-व्यय, ध्रौव्य-धर्म की एवं परमाणु की अनंत धर्मात्मकता का जो निरूपण किया है, वह वास्तव में आत्म-कर्तृत्व की महत्ता को उजागर करता है। उस समय न कोई प्रयोगशालाएं थीं और न ही यांत्रिक साधन—फिर भी परमाणु के रहस्यों को जिस ढंग से प्रस्तुत किया है, वह आश्चर्यकारी है। ❖

चलते हुए पांव में कांटा चुभ जाने पर हम पीड़ा के अनुभव से पांव उठा लेते हैं और चलना बंद कर देते हैं। यह मनुष्य का जैविक गुण है, जो उसकी आनुवंशिकी से प्राप्त होता है। ऐसा व्यवहार हम ध्रुव प्रदेश में रहने वाले एस्कीमो एवं गर्म प्रदेश में रहने वाले भारतीयों, सभी में पा सकते हैं। दूसरी ओर सामने किसी परिचित या मित्र के दिख जाने पर हठात् हम अभिवादन में हाथ जोड़ देते हैं, या दूसरी तरह से अभिवादन करते हैं। यह शिष्टाचार है जो हमें अपनी संस्कृति से प्राप्त होता है। यह जैविक नहीं है, लेकिन जैविक गुण जैसा ही यांत्रिक होता है। अलग-अलग संस्कृतियों में इसके रूप भिन्न होते हैं, पर अभिवादन का कोई न कोई रूप सभी समाजों में होता है। इस अर्थ में हिन्दी शब्द संस्कार, संस्कृति के चरित्र को ठीक-ठीक अभिव्यक्त करता है। हमारा संस्कार अपने समाज के व्यक्तियों के संपर्क से प्राप्त वह गुण है जिसे हमने इस तरह आत्मसात कर लिया है कि विभिन्न स्थितियों में उनके अनुरूप हम बिना प्रयास के स्वतः यथोचित व्यवहार करते हैं। अगर कोई ऐसा अपेक्षित व्यवहार करने में चूक जाता है तो हम उसे संस्कारहीन कह देते हैं। लेकिन असल में कोई भी व्यक्ति संस्कृतिविहीन नहीं हो सकता। विक्षिप्तता की अभिव्यक्ति भी सांस्कृतिक संदर्भ के अनुरूप ही होती है। विक्षिप्त व्यक्ति के व्यवहारों में कोई तारतम्य या परिस्थिति से संगति नहीं दिखाई देती, लेकिन उसके अट्टहास और रुदन, गाली-गलौज और छटपटाहट सभी उसकी अपनी भाषा और अपनी परंपरा के अनुरूप ही होंगे। इस दृष्टि से पागलपन में निश्चित ही संगति होती है (मेथड इन मैडनेस)। सांस्कृतिक व्यवहार में कुछ मानक जरूर उभर आते हैं, लेकिन असली व्यवहार में मनुष्य इन मानकों से थोड़ा इधर-उधर हट कर ही रहता है। ये मानक तो महज औसत व्यवहार अभिव्यक्त करते हैं। मनुष्य संस्कृतिविहीन इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि जीवित रहने के लिए उसे भोजन, कपड़ा, आवास आदि चाहिए, जो तकनीकी यानी संस्कृति की देन हैं। इसी तरह उसे भाषा या किसी अन्य संकेत माध्यम से दूसरों से संप्रेषण की आवश्यकता होगी ही। अगर वह झगड़ालू है, तो अपने झगड़ालूपन को भी अपनी संस्कृति में उपलब्ध तौर-तरीकों से ही व्यक्त कर सकता है। संस्कृति जीवन में इतनी व्याप्त है कि जैसे हम जल बिना मछली के जीवन की कल्पना नहीं कर सकते, वैसे ही संस्कृति बिना मनुष्य के जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकते।

—सच्चिदानंद सिन्हा

बाह्य वातावरण का गर्भगत जीव पर पूरा प्रभाव होता है। माता-पिता के आचार-व्यवहार और विचारों से गर्भ प्रायः प्रभावित होता है। तीर्थंकरों की माताएं गर्भकाल (सगर्भा होने पर) में इस दृष्टि से पूर्ण जागरूक रहती थीं। जैन आगम साहित्य में सगर्भा नारी के करणीय एवं अकरणीय, खाद्य एवं अखाद्य तथा रहन-सहन विधि का विशद विश्लेषण है। आध्यात्मिक माहौल में शिशु (भ्रूण) अध्यात्म संस्कारों से प्रभावित होता है। युद्ध, कलह आदि के माहौल से वह आक्रामक बन सकता है। भगवई प्रथम शतक में इसका पूरा विश्लेषण मिलता है। गर्भगत जीव गर्भकाल में धार्मिक प्रवचन सुनकर अध्यात्म अनुरागी बनता है। उस अवस्था में मृत्यु प्राप्त करता है तो स्वर्गगामी बनता है। दूसरी ओर वैक्रिय लब्धियुक्त भ्रूण विक्रिया से सेना का निर्माण कर युद्ध भी करता है। समरभूमि में कालधर्म प्राप्त कर नरक गति में भी जा सकता है। इस प्रकार 'जैन गर्भ-विज्ञान' अनेक आश्चर्यकारी सचाइयों को समेटे हुए है।

जैन मत और गर्भ-विज्ञान

❑ साध्वी डॉ. योगक्षेमप्रभा

जीवन का आदि काल है—गर्भ और उसका अंतिम छोर है—मृत्यु। मृत्यु की परवर्ती अवस्था ज्ञात-जगत का विषय नहीं है। इसी तरह गर्भ से पूर्व की स्थिति भी अज्ञात है, पर प्रत्यक्ष होने से गर्भ स्वतःसिद्ध है।

भगवती सूत्र में गर्भगत जीव की स्थिति, विकास, इंद्रियज्ञान, आहार-निहार, श्वासोश्वास आदि के संदर्भ में विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। गौतम गणधर ने गर्भ से संबद्ध अनेक प्रश्न किए—जिनके समाधान में भगवान महावीर ने गर्भ का सांगोपांग चित्रण किया। उनकी आयुष्य संबंधी जिज्ञासा थी[1]—प्राणी अगले जन्म में सायुष्क संक्रमण करता है, या निरायुष्क? इसके समाधान में महावीर ने कहा—वह आयुष्य सहित (सायुष्क) संक्रमण करता है, निरायुष्क नहीं। वर्तमान जीवन में ही जीव अग्रिम जन्म का आयुष्य बंध कर लेता है।

गौतम की दूसरी जिज्ञासा इंद्रिय[2] के संबंध में थी। उन्होंने पूछा—भगवन! जीव गर्भ में प्रवेश करते समय स-इंद्रिय होता है अथवा अन-इंद्रिय? भगवान ने कहा—गौतम! स-इंद्रिय होता है और अन-इंद्रिय भी होता है। प्रतिप्रश्न करते हुए गौतम बोले—यह कैसे, भगवन! समाधान के स्वरों में महावीर ने कहा—द्रव्य इंद्रिय की अपेक्षा से जीव अन-इंद्रिय होता है और भाव-इंद्रिय की अपेक्षा से वह स-इंद्रिय है। अर्थात् इंद्रिय ज्ञान की शक्ति गर्भकाल में भी विद्यमान होती है, पर तदनुसार रचना बाद में निष्पन्न होती है।

कोई भी जीव जब गर्भ में प्रवेश करता है, वह अत्यंत सूक्ष्म होता है, पर यहां भी एक सवाल पैदा होता है कि गर्भ में प्रवेश करते समय जीव सशरीरी होता है, कि शरीर रहित? महावीर ने अनेकांत के संदर्भ में इसे भी विश्लेषित किया है।[3] औदारिक, वैक्रिय और आहारक—ये तीनों स्थूल शरीर हैं। स्थूल शरीरों से जीव गर्भ में प्रविष्ट नहीं होता। अतः स्थूल की अपेक्षा से वह अशरीरी होता है। तैजस और कार्मण—ये दो शरीर बंधन-मुक्ति तक जीव से जुड़े रहते हैं। भवांतर गमन में भी ये दोनों सूक्ष्म शरीर जीव के संवाहक बनते हैं। अतः सूक्ष्म शरीर की अपेक्षा से जीव सशरीर ही होता है। स्थूल शरीर औदारिक अथवा वैक्रिय की प्राप्ति शरीर-पर्याप्ति के बंध के बाद होती है। गर्भ में आते ही जीव आहार-पर्याप्ति का बंध करता है। तत्पश्चात् शरीर-पर्याप्ति निष्पन्न होती है। यहीं से शरीररचना और विकास की प्रक्रिया प्रारंभ होती है।

शरीर का निर्माण भूतमात्र के संयोग से नहीं होता, वह स्वकर्म निमित्तक है। जो दार्शनिक पांच भूतों के योग से शरीररचना मानते हैं, उनका निरसन स्वतः ही हो जाता है। पृथ्वी, जल आदि भौतिक परमाणु शरीररचना में सहायक हैं, किंतु उसके उपादान नहीं। भव धारण का उपादान कर्म ही है। न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने प्रचलित मतवादों की चर्चा करते हुए कर्म-निमित्तक शरीर सृष्टि का समर्थन किया है।[4] वे स्पष्ट प्रतिपादित करते हैं कि पूर्वकृत कर्मों के फल से नए शरीर का निर्माण होता है। अकर्म निमित्तक शरीर, सृष्टि और सुख-दुख के योग को उन्होंने मिथ्या दृष्टिकोण कहा है।

अष्टांग हृदय में गर्भ की उत्पत्ति के हेतुओं को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है[5]—शुद्ध शुक्र और शुद्ध रज से तथा स्वकृत कर्मों के कारण जीव की गर्भ में उत्पत्ति होती है, जैसे अरणि को घिसने से अग्नि उत्पन्न होती है। महर्षि चरक[6] के अनुसार जीव चार तन्मात्राओं को साथ लेकर नए जन्म में प्रवेश करता है। सुश्रुत[7] में गर्भावक्रांति प्रकरण में जीव का गर्भप्रवेश सूक्ष्म इंद्रियों या लिंग शरीर के साथ माना गया है।

गर्भगत जीव का प्रथम आहार ओज-आहार है। आहार संबंधी पृच्छा[8] में भगवान कहते हैं—जीव पूर्व शरीर को छोड़ गर्भ में प्रवेश करता है। वह सर्वप्रथम माता के ओज और पिता के शुक्र के मिश्रण का आहार लेता है। वही उसके वर्तमान जीवन का आधार है। आहार के तीन प्रकार हैं—ओज, रोम और कवल या प्रक्षेप-आहार।[9] उत्पत्ति के प्रथम समय में शरीर आदि प्रवृत्तियों के योग्य पुद्गलों का ग्रहण किया जाता है, वह ओज-आहार है। प्रवचन सारोद्धार वृत्ति के अनुसार इसका वैकल्पिक अर्थ है—स्वजन्म स्थानोचित शुक्र, शोणित आदि पुद्गल संघात का आहार।[10]

ओजस का अर्थ है—तैजस। यह आहार कार्मण शरीर-युक्त तैजस शरीर से लिया जाता है। अतः इसका नाम ओज-आहार है। रोम-आहार पूरे शरीर से ग्रहण किया जाता है। दिन-रात, सोते-जगते, घूमते-ठहरते प्रतिक्षण रोम-आहार का ग्रहण होता है। अवयवों का विकास होने के बाद गर्भावस्था में ही रोम-आहार शुरू हो जाता है। वह जीवन के पर्यवसान तक चालू रहता है।

सब प्रकार के खाद्य, पेय, लेह्य पदार्थों का समावेश कवल-आहार में होता है। गर्भस्थ जीव कवल-आहार नहीं करता। गर्भ में विद्यमान जीव माता के आहार पर निर्भर करता है। भगवतीकार के अनुसार[11] बालक माता के आहार का एक देश ओज के रूप में ग्रहण करता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने ओज को धातु के अर्थ में ग्रहण किया है।[12] चरक संहिता का संदर्भ देकर वे कहते हैं—सभी रसों से युक्त वह आहार-रस गर्भिणी स्त्री के शरीर में तीन भागों में विभक्त होता है—(1) गर्भिणी के स्वयं के शरीर की पुष्टि के लिए। (2) गर्भस्थ शिशु के शरीर की वृद्धि एवं पुष्टि के लिए। (3) दूध बनाने के लिए।

गर्भस्थ शिशु इस आहार से संपोषण प्राप्त कर गर्भाशय के भीतर एक निश्चित काल व्यतीत करता है। भगवतीकार ने आहार की प्रणाली को आख्यायित करते हुए कहा—मातृ जीव रस हरणी और पुत्र जीव रस हरणी—ये दो नाड़ियां होती हैं। वे मातृ जीव से प्रतिबद्ध और पुत्र जीव से स्पृष्ट होती है। उससे गर्भगत जीव आहार करता है। अष्टांग हृदय और सुश्रुत संहिता के अनुसार गर्भ की नाभि में तथा माता के हृदय में रसवाहिनी नाड़ी का संबंध रहता है जिसके द्वारा गर्भ का पोषण होता रहता है। जैसे खेत की फसल का पोषण जल-प्रणाली से।

मनुष्य और विभिन्न पशु-पक्षियों में गर्भकाल में विविधता है। तिर्यंच गर्भ की स्थिति जघन्य अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आठ वर्ष है। मनुष्य गर्भ की स्थिति जघन्य अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट बारह वर्ष है। गर्भस्थ शिशु में उच्चार-प्रसवण (मल-मूत्र विसर्जन) की क्रियाएं नहीं होतीं। वह माता के

भोजन का केवल सार अंश ही ग्रहण करता है। सुश्रुत संहिता[13] के अनुसार मल के अत्यल्प होने से तथा वायु एवं पक्वाशय का परस्पर संयोग न होने से गर्भगत जीव वायु, मल, मूत्र का त्याग नहीं करता। गर्भ का उच्छ्वास-निःश्वास माता के उच्छ्वास-निःश्वास पर निर्भर है। आयुर्विज्ञान (Medical Science) के अनुसार माता द्वारा गृहीत आक्सीजन, पोषक तत्त्व अपरा (Plecenta) के माध्यम से गर्भ तक पहुंचते हैं। उत्सर्जनीय पदार्थ—कार्बन डाइऑक्साइड, यूरिया आदि गर्भ से पुनः माता तक पहुंचाए जाते हैं। भ्रूण द्वारा आहार एवं श्वासोश्वास का कार्य स्वतंत्र नहीं होता।[14]

जीव के अंगों की प्राप्ति का भी भगवती आगम में उल्लेख है। प्रत्येक जीव को कुछ अवयव मां से प्राप्त होते हैं, तो कुछ पिता से। भगवती के अनुसार[15] संतान में तीन मातृ-अंग प्रज्ञप्त हैं। जैसे मांस, शोणित और मस्तुंल्लुग (मस्तिष्कीय मज्जा)। इसी प्रकार अस्थि, अस्थि मज्जा, केश, श्मश्रु-रोम और नख—ये पितृ-अंग प्रज्ञप्त हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार गर्भ को माता-पिता से 23-23 गुणसूत्र की प्राप्ति होती है।

भगवती आराधना, तंदुलवेयालिय आदि ग्रंथों में गर्भ के विकास की प्रक्रिया का सविस्तार विवेचन उपलब्ध है।[16] ज्योतिष एवं आयुर्विज्ञान में भी गर्भाधान से लेकर भ्रूण विकास की अवस्थाएं उपरोक्त क्रम से मिलती-जुलती हैं। गर्भ काल में शिशु के अंगोपांग की वृद्धि एवं विकास क्रमशः होता है। इस दृष्टि से चिकित्सकीय 'म्यूजियम' में रासायनिक प्रक्रिया से सुरक्षित मृत-भ्रूण दर्शनीय है। प्रत्येक माह जीव में उत्तरोत्तर विकास होता है, जो जन्म के पश्चात् भी अनवरत चालू रहता है। जैन-दर्शन के अनुसार भ्रूण में चेतना प्रथम क्षण से ही विद्यमान रहती है। इस दिशा में वैज्ञानिक अनुसंधान निरंतर चल रहे हैं।

वर्तमान युग में तेजी से बढ़ रही भ्रूण-हत्या की रोकथाम में अनेक वैज्ञानिक सामने आए हैं। बारह सप्ताह का भ्रूण सचेतन होता है। इसे सिद्ध करने के लिए निर्वाक फिल्म का निर्माण भी हुआ है। बारह सप्ताह के भ्रूण को गिराते वक्त उस शिशु की क्या स्थिति होती है, यह इस 'साइलेंट स्क्रीन' फिल्म में स्पष्ट दिखाया गया है। डॉ. नेथलसन[17] जो लंबे अर्से तक गर्भपात करते रहे। हजारों भ्रूणों को जिन्होंने अपनी शल्य-क्रिया के कौशल से मिटा दिया, जब गर्भपात (भ्रूण-हत्या) रोकथाम में लगे, तो एक क्रांति ला दी। भ्रूण-हत्या से कुछ समय पूर्व से आखिरी अंजाम तक को अल्ट्रासाउंड (Ultra Sound) के माध्यम से उन्होंने स्पष्ट दिखाया है। वे कहते हैं—गर्भपात के समय भ्रूण को अपने पर होने वाले आक्रमण का पता चल जाता है। उसके दिल की धड़कन बढ़ जाती है। वह अपना मुंह खोल कर चीखने लगता है।

बाह्य वातावरण का गर्भगत जीव पर पूरा प्रभाव होता है। माता-पिता के आचार-व्यवहार और विचारों से गर्भ प्रायः प्रभावित होता है। तीर्थंकरों की माताएं गर्भकाल (सगर्भा होने पर) में इस दृष्टि से पूर्ण जागरूक रहती थीं। जैन आगम साहित्य में सगर्भा नारी के करणीय एवं अकरणीय, खाद्य एवं अखाद्य तथा रहन-सहन विधि का विशद विश्लेषण है। आध्यात्मिक माहौल में शिशु (भ्रूण) अध्यात्म संस्कारों से प्रभावित होता है। युद्ध, कलह आदि के माहौल से वह आक्रामक बन सकता है। भगवई प्रथम शतक[18] में इसका पूरा विश्लेषण मिलता है। गर्भगत जीव गर्भकाल में धार्मिक प्रवचन सुनकर अध्यात्म अनुरागी बनता है। उस अवस्था में मृत्यु प्राप्त करता है तो स्वर्गगामी बनता है। दूसरी ओर वैक्रिय लब्धियुक्त भ्रूण विक्रिया से सेना का निर्माण कर युद्ध भी करता है। समरभूमि में कालधर्म प्राप्त कर नरक गति में भी जा सकता है। इस प्रकार 'जैन गर्भ-विज्ञान' अनेक आश्चर्यकारी सचाइयों को समेटे हुए है।

आधुनिक विज्ञान इस संदर्भ में अनुसंधान कर नए तथ्यों को उजागर कर रहा है। नोर्थ केरोलिना यूनिवर्सिटी के श्री एंथानी डिस्केपर एवं श्री विलियम फिफर ने अनेक प्रयोगों के बाद यह सिद्ध किया है कि गर्भकाल में ही भ्रूण की ज्ञान चेतना विकस्वर होने लगती है। उन्होंने पाया कि गर्भस्थ शिशु जिन गीतों को सुनता है, जिन आवाजों को सुनता है—जन्म के पश्चात् वह उन्हें पहचान लेता है। जर्मन वैज्ञानिक प्रो. अर्नेस्ट पोपेल के अनुसार गर्भस्थ शिशु सपने भी देखता है। अठ्ठाइस सप्ताह का अजन्मा शिशु संगीत की थाप पर नाचता है। विज्ञान की गर्भ-विज्ञान (Embryology) शाखा इस दृष्टि से नित्य नवीन शोध-प्रयोग कर रही है। जैन-दर्शन में गर्भ-विज्ञान (Embryology) का भगवई का पूरा आलापक नवीन अन्वेषकों एवं अनुसंधाताओं को नई दिशा प्रदान कर सकता है। ❖

संदर्भ ग्रंथ

1. भगवई 5/59-60
2. भगवई 1/340-341

शेष पृष्ठ 58 पर

श्रम, शम एवं सम—सच्चा विज्ञान

❑ रामजीसिंह

सामाजिक श्रम-विभाजन या भारतीय वर्ण-व्यवस्था भी 'गुण और कर्म' पर आधारित है। वर्णधर्म गुण एवं कर्म पर और आश्रमधर्म स्पष्टतः श्रमाधारित है। जिस समाज का आधार श्रम नहीं होता, वहां वैषम्य बढ़ता है। वहीं पर श्रमजीवी एवं श्रम-शोषक—दो वर्ग पैदा होते हैं। फिर तो श्रमजीवी एवं अभिजात्य वर्गों में संघर्ष अपरिहार्य है, जिसके फलस्वरूप समाज में अशांति एवं अराजकता पैदा होती है। इसी को मार्क्स सर्वहारा एवं बुर्जुआ वर्गों के बीच वर्गसंघर्ष का कारण मानते हैं।

हमारे शास्त्रों में श्रम की प्रतिष्ठा के अनंत वर्णन हैं। वहीं 'शूद्रत्व' के साथ कायिक-श्रम को जोड़ कर सामाजिक श्रम-विभाजन को विकृत भी किया गया है। इसी से समाज में अनुत्पादक एवं अभिजात्य वर्ग की सृष्टि हुई। ऋग्वेद के अनुसार ब्रह्मा की उग्र तपस्या से ही ऋतु एवं सन्य उत्पन्न हुए—**ऋतं च सन्यं चाभीद्धात तपसोऽध्याजायत।** (ऋग्वेद 10-170-1)। उपनिषदों के अनुसार तप या परिश्रम से ही सृष्टि की रचना मानी गई है—**स तपसोऽतप्यते। स तपस तपन्वा इदं सर्वमसृजत्।** महापुराण में भगवान श्रीकृष्ण के जीवन में श्रम का स्थान है। भूख-प्यास की पीड़ा और विश्राम की आवश्यकता को भुला कर सात दिनों तक गोवर्द्धन धारण करने का उल्लेख है—**वीक्ष्यमाणो मधावद्रिं सप्तांह नाचलत पदात्** —(भागवत पुराण 10,25.22)। गीता में भगवान ने कहा है कि यदि वे ही आलस्य त्याग कर कर्म करने में प्रवृत्त न हों तो सर्वशः लोग भी आचरण नहीं करेंगे—**यदि हयहं न वर्त्तेयं जातु कर्मरायतन्द्रितः। मम वर्त्माऽनुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।** (गीता 3.23) भगवान श्रीकृष्ण ने तो अर्जुन के रथ का सारथ्य एवं घोड़ों की परिचर्या कर आदर्श उपस्थित किया ही था। बाइबिल में तो ईश्वर ने छह दिनों तक सृष्टि निर्माण कर सातवें दिन विश्राम लिया। इसलाम के पैगंबर हजरत मुहम्मद साहब स्वयं बकरियां चरा कर श्रम की प्रतिष्ठा करते थे। गीता के अनुसार अन्न वृष्टि से, वृष्टि यज्ञ से और यज्ञ कर्म से समुत्पन्न होता है।

सामाजिक श्रम-विभाजन या भारतीय वर्ण-व्यवस्था भी 'गुण और कर्म' पर आधारित है। वर्णधर्म गुण एवं कर्म पर और आश्रमधर्म स्पष्टतः श्रमाधारित है। जिस समाज का आधार श्रम नहीं होता, वहां वैषम्य बढ़ता है। वहीं पर श्रमजीवी एवं श्रम-शोषक—दो वर्ग पैदा होते हैं। फिर तो श्रमजीवी एवं अभिजात्य वर्गों में संघर्ष अपरिहार्य है, जिसके फलस्वरूप समाज में अशांति एवं अराजकता पैदा होती है। इसी को मार्क्स सर्वहारा एवं बुर्जुआ वर्गों के बीच वर्गसंघर्ष का कारण मानते हैं।

श्रमशील समाज में जहां वैषम्य की संभावना कम है, वहीं सामंतवाद एवं शोषण के लिए भी कम-से-कम स्थान होता है। अपने श्रम की चोरी एवं दूसरे के श्रम का शोषण ही सामाजिक संघर्ष का कारण है। मानव-इतिहास पर श्रम एवं पुरुषार्थ की प्रतिच्छाया सदैव रही है। मार्क्स ने इसीलिए अतिरिक्त मूल्य (Theory of Surplus Value) के सिद्धांत के बदले 'मूल्य का श्रम-सिद्धांत' (Labour theory of Value) रखते हुए वस्तु के मूल्य में 'श्रम' के उच्चतम वर्चस्व को सामाजिक-आर्थिक सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया है। महात्मा गांधी तो मार्क्स से भी एक कदम आगे बढ़ते हैं और श्रमजीवी एवं व्यवस्थापक वर्ग—दोनों के अंतर को दूर करने की बात कहते हैं। रस्किन के 'अंत्योदय' में भी श्रमजीवी एवं बुद्धिजीवी के बीच के भेदभाव को दूर करने की बात कही गई है। रस्किन ने साफ कहा है कि श्रमजीवी हज्जाम और बढ़ई के काम का उतना ही मूल्य है

जितना एक बुद्धिजीवी वकील या डाक्टर का। बल्कि रस्किन तो यहां तक कहते हैं कि सर्वोत्तम काम तो श्रमजीवी का ही है।

यदि हमें वर्ग-विहीन समाज बनाना है तो फिर 'हुजूर' एवं 'मजूर'—ये दो वर्ग नहीं रख सकते। प्रत्येक व्यक्ति को शरीर-श्रम करना पड़ेगा, वर्ना दो वर्ग बने रहेंगे और अंततोगत्वा शरीर-श्रम को बौद्धिक श्रम से हीन समझा जाएगा। देखा जाए तो शरीर-श्रम अस्तेय और अपरिग्रह में से ही निकलने वाला सीधा नियम है। गीता ने तो कहा है कि बिना यज्ञ किए भोजन करना पाप है—**यज्ञार्थात्कर्मणो अन्यत्र लोकाऽयं कर्मबंधनः** (गीता 31/89.9)। तैत्तिरीय संहिता में इसीलिए यज्ञ को ही ईश्वर कहा गया है—**यज्ञो वै विष्णुः**।

इस प्रकार शरीर-श्रम भारतीय संस्कृति में 'यज्ञ' के नाम से पुकारा जाता है। इसके लिए बाइबिल एवं गीता में एक-वाक्यता है। बाइबिल कहती है—'अपनी रोटी तू अपना पसीना बहा कर कमाना और खाना।' रस्किन ने इसीलिए इसको 'ब्रेड लेबर' (रोटी के लिए श्रम) कहा। रोटी के लिए हर आदमी का हाथ-पैर हिलाना ईश्वरीय नियम है, यह मूल खोज टॉल्स्टॉय की नहीं, बल्कि रूसी लेखक बुर्नोह की है। करोड़पति या महान से महान बुद्धिमान भी व्यायाम, योगासन आदि करके भूख उत्पन्न करता है और आखिर खाता तो अपना ही हाथ-मुंह हिला कर ही है। इसलिए यदि इस तरह राजा-रंक सभी को अंग संचालन करना ही पड़ता है तो रोटी पैदा करने की कसरत सब लोग क्यों न करें? संसार में किसान, मजदूर आदि श्रमजीवी 90 प्रतिशत हैं, जो स्वाभाविक रूप से शरीर-श्रम करते हैं। मात्र 10 प्रतिशत लोग होंगे जो बिना शरीर-श्रम किए दूसरों के श्रम पर जीते हैं। लेकिन, यही वर्ग अधिक दवा का सेवन भी करता है और यही वर्ग समाज का शोषक भी है। अतः शरीर-श्रम एवं बौद्धिक श्रम का समन्वय जरूरी है। जो श्रमजीवी हैं, उन्हें बुद्धि, विद्या मिले और जो बुद्धिजीवी या केवल आरामतलब हैं—वे श्रम को जीवन में अपनाएं, तो अनेक कठिनाइयां स्वतः दूर हो जाएंगी। फिर समाज में ऊंच-नीच का भेद भी दूर हो जाएगा। यदि गांधीजी के अनुसार सभी के लिए शरीर-श्रम आवश्यक हो जाए तो समाज वर्ग-विहीनता की ओर सहजता से बढ़ सकता था। समाज में आज भी कई प्रकार के वैषम्य हैं—आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि। लेकिन, सबसे बड़ा वैषम्य है—श्रमजीवी एवं बुद्धिजीवी का विभाजन। आज समाज में विद्वेष एवं कलह का यह मूल कारण है। समाज में अपराध

श्रम की महिमा

❑ यशपाल जैन ❑

एक साधु थे। उनका अपना छोटा-सा आश्रम था। थोड़े से शिष्य थे। वे सब ज्ञान की उपासना में लीन रहते थे।

एक बार की बात है कि बहुत दिनों तक वर्षा नहीं हुई और पानी के अभाव में आश्रम के पेड़-पौधे सूख गए। आश्रम उजाड़-सा होने लगा।

उन्होंने सोचा, क्या किया जाए? आश्रम से कुछ ही दूरी पर पानी का एक तालाब था। उस तालाब में भी थोड़ा पानी बचा था। साधु ने निश्चय किया कि उस तालाब से पानी लाकर आश्रम के पेड़-पौधों को सींचेंगे, इससे पौधों को बचाया जा सकता है। उन्होंने शिष्यों से कहा। पर, घोर गर्मी में इतनी दूर जाकर पानी लाने से हिचकिचाहट नजर आई, लेकिन साधु अपने संकल्प पर अडिग थे। वे एक कलश उठा कर तालाब की ओर चल दिए। शिष्यों ने यह देखा तो वे भी कलश लेकर उनके साथ हो गए।

मारे गर्मी के उनके शरीर से पसीना बह कर धरती पर गिर रहा था, पर उन्होंने इसकी चिन्ता नहीं की। तालाब से कलशों में पानी ला-लाकर आश्रम की प्यासी धरती की क्षुधा तृप्त करते रहे। उनका यह क्रम चलता रहा।

उनके इस परिश्रम से कुछ ही समय में आश्रम का रूप बदल गया, हरियाली फिर लहलहाने लगी। लेकिन यह क्या? जिस रास्ते से वे अपना पसीना बहाते तालाब पर जाते थे उस पर भी हरे-हरे पौधे मुस्कराने लगे। शिष्यों को बड़ा आश्चर्य हुआ।

तब साधु ने उन्हें समझाया—'इसमें अचरज की कोई बात नहीं है। यह पसीने का करिश्मा है। तुमने सुना नहीं है, जहां पसीने की बूंदें गिरती हैं, वहां कीमती मोती उगते हैं।' ❖

भी इस विभाजन के कारण बढ़ते हैं। अधिकांश अपराध श्रमविहीन अनुत्पादक वर्ग करता एवं कराता है।

मानव को नया संस्कार देने वाला उपकरण शिक्षा है। शिक्षा में ज्ञान और कर्म का वास्तविक समन्वय खोजा जाना चाहिए। आज बढ़ते हुए यंत्रवाद में मानव का स्थान गौण हो रहा है। हम इसे प्रौद्योगिकी हस्तांतरण (Technological alienation) कहते हैं। इसके कारण आज अमानवीयकरण का संकट हमें आक्रांत कर रहा है। समाज में विक्षिप्तता, मानसिक असंतुलन आदि अनेक प्रकार की व्याधियां बढ़ती जा रही हैं।

श्रम सृष्टि की सबसे बड़ी दौलत है। श्रम की प्रतिष्ठा से समाज में ऊंच-नीच का भेद मिटेगा। श्रम ही जीवन का सर्वोत्तम मित्र है। मनुष्य के स्वाभाविक आरोग्य को देखें तो श्रम को संजीवनी मानना पड़ेगा।

भगवान महावीर एवं भगवान बुद्ध ने श्रमण-संस्कृति का आधार श्रम, शम एवं सम माना है। श्रमाधारित समाज में ही समता संभव है, वहीं पर संयम आदि पर स्वाभाविक नियंत्रण है। विज्ञान यदि मनुष्य को चार घंटे ही काम देकर 20 घंटे खाली रखेगा, तो एक दुर्दांत समस्या उठेगी कि कैसे उस समय का उपयोग हो। मनुष्य को श्रम से विलग करने वाला विज्ञान सच्चा विज्ञान कैसे हो सकता है?

❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

समसामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी-कविता
भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार
पहले से ही अपने पास रखें

समाप्त हुई केन काका की सेवाएं

❑ रस्किन बांड

महाराजा के बच्चे मुझसे छोटे थे। केन काका यह कह कर मुझे उनके पास बैठा जाते—'रस्टी, जरा देखते रहना, ये सवाल सही निकालें।'—और जेब में हाथ डाले बेसुरी सीटी बजाते हुए वह 'टेनिस कोर्ट' की तरफ निकल जाते।

उनके दोनों छात्र यदि एक ही सवाल के अलग-अलग जवाब निकालते, तो भी केन काका दोनों की पीठ थपथपाते हुए कहते—'बहुत खूब! बहुत खूब! मुझे खुशी है कि तुम दोनों डट कर मेहनत करते हो। एक का जवाब सही है, और दूसरे का गलत। पर, मैं किसी का दिल तोड़ना नहीं चाहता। इसलिए नहीं बताऊंगा कि कौन सही है और कौन गलत।'

'केन काका के बारे में कुछ करना होगा!'—आखिर एक दिन दादी ने हताश होकर अपने-आप से कहा।

मैं किचन में दादी के पास बैठा मटर छील रहा था और बीच-बीच में एक-आध दाना अपने मुंह में भी डाल लेता था। सूजी बिल्ली साइड बोर्ड पर बैठी थी।

दादी कहे जा रही थीं—'यह बात नहीं कि उसका यहां रहना मुझे खलता है और फिर मैं उससे कोई रुपया-पैसा भी तो नहीं चाहती, लेकिन किसी नौजवान के लिए इतने लंबे समय तक बेकार रहना भला ठीक लगता है!'

—'दादी! केन काका नौजवान हैं क्या ?'

—'चालीस का हो गया। हर कोई कहता है कि बड़ा होकर समझदार हो जाएगा।'

—'केन काका मेबल आंटी के पास क्यों नहीं चले जाते ?'

—'मेबल आंटी के यहां भी जाकर रहता है। एमिली आंटी और बेरिल आंटी के घर भी जाता है। यही तो मुसीबत है इसकी कि इतनी सारी बहनें हैं इसकी, जो इससे प्यार-मनुहार करती हैं और इसे अपने पास रखने को भी तैयार हैं और इसकी हरकतें भी बरदाश्त करती हैं··· उनके पति खाते-पीते लोग हैं और जब-तब इसे अपने पास रखने की स्थिति में भी हैं। इसीलिए केन तीन महीने एमिली के यहां और तीन महीने मेरे पास बिताता है। इस तरह, वह किसी-न-किसी का मेहमान बन कर पूरा साल बिता देता है और इसीलिए इसे खाने-कमाने की कोई चिंता नहीं होती।'

—'एक तरह से केन काका भाग्यशाली हुए न!'—मैंने कहा।

—'इसका भाग्य हमेशा इसका साथ नहीं देगा। अब तो मेबल भी न्यूजीलैंड जाने की बात कह रही है। और, एक बार हिंदुस्तान आजाद हो गया, जो एक-दो बरस के भीतर होगा ही, तो एमिली और बेरिल भी शायद इंग्लैंड चली जाएंगी, क्योंकि उनके पति फौज में हैं। और, सारे अंग्रेज अफसर भी चले जाएंगे।'

—'केन काका उनके साथ इंग्लैंड क्यों नहीं चले जाते?'

—'वह जानता है, वहां जाएगा तो उसे काम करना पड़ेगा। जब तुम्हारी आंटियां देखेंगी कि नौकरों-चाकरों के बिना ही काम चलाना है, तो वे ज्यादा देर तक केन काका को रखने को तैयार नहीं होंगी और फिर, इंग्लैंड या न्यूजीलैंड जाने का उसका भाड़ा कौन देगा?'

—'अगर केन काका नहीं गए, तो क्या वह यहीं आपके पास ही रहेंगे, दादी? आप तो यहीं रहेंगी न?'

—'हमेशा के लिए थोड़े। जब तक जीवित हूं।'

—'दादी, आप इंग्लैंड नहीं जाएंगी?'

—'नहीं, मैं यहीं बड़ी हुई। मेरी दशा पेड़ों जैसी है। मैंने जड़ पकड़ ली है यहां। मैं कहीं नहीं जाऊंगी। तब तक नहीं, जब तक बूढ़े पेड़ की तरह मेरे सारे पत्ते नहीं झड़ जाते··· हां, बड़े होकर तुम चले जाओगे। अपनी पढ़ाई शायद तुम इंग्लैंड में ही पूरी करो।'

—'नहीं, मैं तो यहीं पढ़ूंगा। मैं अपनी सारी छुट्टियां आपके साथ बिताना चाहता हूं, दादी! अगर मैं इंग्लैंड चला गया, तो बुढ़ापे में आपकी देख-भाल कौन करेगा?'

—'मैं बूढ़ी तो हो ही गई हूं। साठ पार कर गई।'

—'इतनी उम्र क्या ज्यादा होती है? केन काका से थोड़ी ही तो ज्यादा है। और जब आप सचमुच बूढ़ी हो जाएंगी—दादी! तो केन काका की देख-भाल कौन करेगा?'

—'वह चाहे तो अपनी देख-भाल खुद कर सकता है। वक्त आ गया है कि वह ऐसा करना सीख ले। फिर यही वक्त है, वह कोई काम-धंधा भी ढूंढ़ ले।'

मैंने भी इस समस्या पर विचार किया। मुझे ऐसा कोई काम दिखाई नहीं पड़ता था, जो केन काका के अनुकूल होता—या यों कहिए कि कोई आदमी ऐसा नहीं दिखा जो केन काका को अनुकूल समझे। तब आया ने ही एक सुझाव दिया।

वह बोली—'गुलशन की महारानी को बच्चों के लिए 'ट्यूटर' चाहिए। एक लड़का है, एक लड़की है, बस।'

—'तू कैसे जानती है?'—दादी ने पूछा।

—'बच्चों की आया के मुंह से सुना है। दो सौ रुपए देते हैं और काम भी कोई ज्यादा नहीं है—हर रोज सुबह दो घंटे।'

मैंने कहा—'केन काका को पसंद आना चाहिए।'

—'ठीक कहते हो।' दादी बोलीं—'उसे समझाते हैं कि एक अर्जी डाल ही दे। चाहिए तो यह कि वह खुद जाकर उनसे मिले। महारानी की नौकरी अच्छी रहेगी।'

केन काका ने वहां जाना और काम के बारे में पूछताछ करना स्वीकार कर लिया। जब वह गए तो महारानी घर पर नहीं थी, मगर महाराजा ने उनका 'इंटरव्यू' लिया।

—'तुम टेनिस खेलते हो?'—महाराजा ने पूछा।

—'जी, खेल लेता हूं।'—केन काका बोले। उन्हें याद आया कि जब वह स्कूल में पढ़ते थे, तो थोड़ी-बहुत टेनिस खेल लेते थे।

—'ठीक है, यह नौकरी तुम्हारी हुई। मैं 'डबल्स-मैच' के लिए चौथे खिलाड़ी की तलाश में था··· और सुनो'··· इंग्लैंड के एक प्रसिद्ध शिक्षाकेंद्र का नाम लेकर उन्होंने पूछा—'कभी 'कैंब्रिज' में रहे हो?'

—'नहीं, मैं 'आक्सफोर्ड' में था।'—केन काका ने एक अन्य शिक्षाकेंद्र का नाम लेकर जवाब दिया।

इस बात से महाराजा बड़े प्रभावित हुए। वह अपने बच्चों के लिए किसी ऐसे ही 'ट्यूटर' की तलाश में थे जो 'आक्सफोर्ड' में पढ़ा हो और टेनिस भी खेलता हो।

केन काका ने आकर इस इंटरव्यू की बात दादी को बताई। दादी बोली—'लेकिन, केन, तू तो कभी 'आक्सफोर्ड' गया नहीं! फिर यह बात क्यों कहीं तूने?'

—'और क्या, मैं 'आक्सफोर्ड' गया हूं। भूल गईं, वहां मैं तुम्हारे भाई जिम के साथ दो साल रहा।'

—'हां, मगर तुम तो शहर में नौकरी करते थे। तुम 'आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी' तो कभी नहीं गए।'

—'ठीक है··· महाराजा ने मुझसे पूछा ही नहीं कि मैं यूनिवर्सिटी गया या नहीं। उसने तो यही पूछा था कि मैं 'कैंब्रिज' में रहा कि नहीं। तब मैंने बता दिया, मैं 'आक्सफोर्ड' में रहा हूं, जो एकदम सच है। महाराजा ने मुझसे यह नहीं पूछा कि मैं 'आक्सफोर्ड' में क्या करता था। अजी, फर्क क्या पड़ता है!'—और केन काका सीटी बजाते हुए चलते बने।

हमें यह जान कर बड़ा अचरज हुआ कि केन काका अपनी इस नौकरी में खूब चमके। कम से कम शुरू में तो ऐसा ही हुआ।

महाराजा इतना खराब टेनिस खेलते थे कि वह यह जान कर प्रसन्न हुए कि कोई उनसे भी खराब खेल सकता है। सो, केन काका महाराजा के 'डबल्स' में 'पार्टनर' होने के बजाए 'सिंगल्स' में उनके चहेते विरोधी बन गए। जब तक वह महाराजा से हारते रहेंगे, उनकी नौकरी बनी रहेगी।

टेनिस के मैचों के बीच और महाराज के साथ केन काका बच्चों को विद्यादान देने के लिए थोड़ा समय निकाल लेते थे। बच्चों को लिखना, पढ़ना और गणित सिखाते थे। बीच-बीच में मुझे भी अपने साथ ले जाते, ताकि कभी कोई सवाल गलत निकालें, तो मैं उन्हें बता दूं। केन काका घटाव के सवालों में कमजोर थे।

महाराजा के बच्चे मुझसे छोटे थे। केन काका यह कह कर मुझे उनके पास बैठा जाते—'रस्टी, जरा देखते रहना, ये सवाल सही निकालें।'—और जेब में हाथ डाले बेसुरी सीटी बजाते हुए वह 'टेनिस कोर्ट' की तरफ निकल जाते।

उनके दोनों छात्र यदि एक ही सवाल के अलग-अलग जवाब निकालते, तो भी केन काका दोनों की पीठ थपथपाते हुए कहते—'बहुत खूब! बहुत खूब! मुझे खुशी है कि तुम दोनों डट कर मेहनत करते हो। एक का जवाब सही है, और दूसरे का गलत। पर, मैं किसी का दिल तोड़ना नहीं चाहता। इसलिए नहीं बताऊंगा कि कौन सही है और कौन गलत।'

लेकिन बाद में घर लौटते हुए वह मुझसे पूछते—'किसका जवाब सही था, रस्टी?'

—'दोनों गलत थे, केन काका'—मैं कहता।

केन काका हमेशा यह दावा करते थे कि उनकी लगी-लगाई नौकरी न छूटती, यदि महाराजा को वह टेनिस में न हराते।

ऐसी बात नहीं थी कि केन काका महाराजा से जीतने को लालायित थे। मगर यदा-कदा वह महाराजा के सचिवों और अतिथियों के साथ टेनिस खेलते-खेलते अच्छा खेलना सीख गए थे। और, इस तरह महाराजा से हारने की भरसक कोशिश के बावजूद एक मैच वह उनसे जीत ही गए।

इस पर महाराजा एकदम भड़क उठे।

—'मिस्टर बांड!'—महाराजा ने कठोर स्वर में कहा—'हम नहीं समझते कि तुम हारने का महत्त्व समझते हो। सभी जीत नहीं सकते। हारने वाले न हों, तो दुनिया कहां जाएंगी?'

—'बहुत अफसोस है महामहिम'—केन काका बोले—'मैं तो संयोग से जीत गया।'

उस दिन तो महाराजा ने केन काका को क्षमा कर दिया। मगर हफ्ते भर बाद फिर यही हुआ। केन काका फिर जीते और इस बात से महाराजा इतने खफा हुए कि बिना कुछ बोले भुनभुनाते हुए 'टेनिस कोर्ट' से निकल गए।

अगले दिन महाराजा पढ़ाई के वक्त आ धमके। केन काका और दोनों बच्चे हर रोज की तरह उस समय 'सिफर-काटे' के खेल में मग्न थे।

—'मिस्टर बांड! कल से तुम्हारी सेवाओं की हमें आवश्यकता नहीं होगी। हमने अपने सचिव से कह दिया है कि नोटिस के बदले तुम्हें एक महीने का वेतन दे दे।'

केन काका जेबों में हाथ डाले खुशी-खुशी सीटी बजाते हुए घर लौटे।

—'आज जल्दी आ गया तू?'—दादी ने पूछा।

—'उन्हें अब मेरी जरूरत नहीं रही!'—केन काका बोले।

—'खैर, कोई बात नहीं। भीतर आकर चाय पी ले।'

दादी तो जानती थी कि केन काका की यह नौकरी भी ज्यादा दिन नहीं चलेगी। फिर वह झिड़कती-फटकारती भी नहीं थीं। जैसा कि उन्होंने बाद में कहा—'इसने कम से कम कोशिश तो की। और, यह नौकरी पहली नौकरियों से अधिक दिन चली—दो महीने।'

❖

जैन मत और गर्भ-विज्ञान पृष्ठ 51 का शेष

3. भगवई 1/342-343
4. न्याय दर्शन (वात्स्यायन भाष्य) 3/2/59,60
5. अष्टांग हृदय शरीर स्थान 1/1
6. चरक संहिता 2/31
7. सुश्रुत संहिता 3/4
8. भगवई 1/344
9. जैन तत्त्व विद्या, भाग 2/16
10. प्रवचन सारोद्धार वृत्ति, पृ. 342
11. भगवई 1/345-349
12. भगवई विआहपन्नति, पृ. 153
13. सुश्रुत संहिता 2/53
14. Encyclopedia Britanica Embryology Human Vol. P. 326
15. भगवई 1/350 Encyclopedia Britanica 'Heradity', Vol. XI P. 422A
16. भगवती आराधना गाथा 2007-2017, तंदुलवेयालिय, पृ.-6
17. तीर्थंकर (जैन जैविकी विशेषांक) फरवरी-मार्च 1986, पृ. 57
18. भगवई 1/354, 355

❖❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है।
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

बिनोदकुमार चोरड़िया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

With best compliments from :

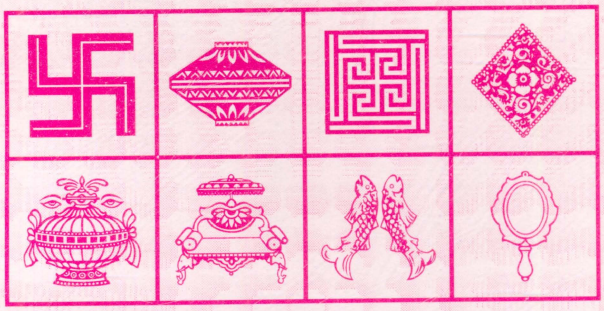

HEMRAJ SAMSUKHA

Vineet Texfab Ltd.

101, Mamulpet, Bangalore 560053

Phone : (O) 22253276, (R) 25534815

जैन भारती, मई, 2009
प्रेषण दिनांक 28 अप्रैल, 09

"Licensed to Post without Pre-Payment" Under Licence
No. Tech./W.R./47-2/11/2009-2011 Valid till 31-12-2011

भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2009-2011

Pigeon™

Top Quality
Unbeatable Price

Wick Stove

Solo

Cute

Hob

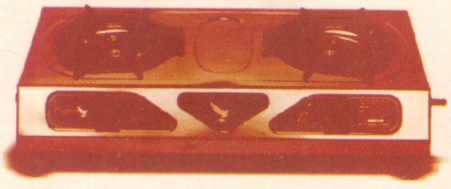
Duo (Two Burner)

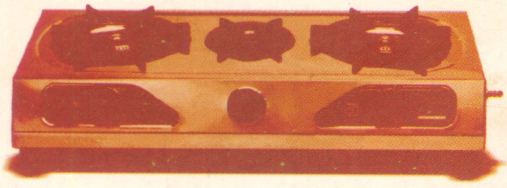
Trio (Three Burner)

IS : 4246
CML 6231958

Junior
SS Pressure Pan WOL

Junior
SS Pressure Pan WL

Senior
SS Pressure Pan WOL

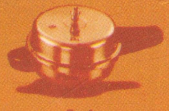
Senior
SS Pressure Pan WL

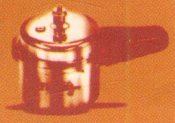
3 Ltr. SS

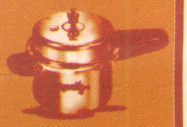
7.5 Ltr. SS

10 Ltr. SS

12 Ltr. SS

Chefmate

750 watts
High power motor

Stovekraft Pvt. Ltd.
58/2, Chickalasandra Subramanyapura Road, Bangalore 560061 INDIA
PH : (080) 26663256, 26665319, 26662861 Fax : (080) 26669555
Email : Vardhman@bgl.vsnl.net.in Website : www.vardhmanenterprises.com

A quality product of Stovekraft

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।